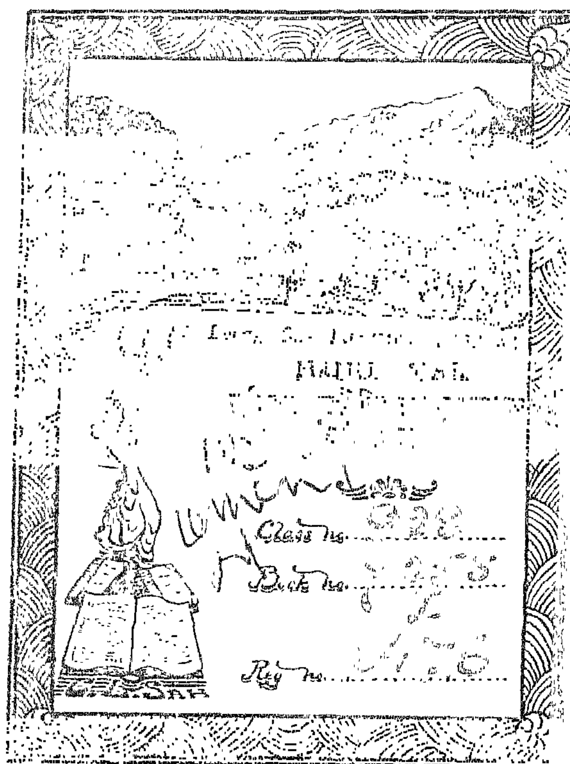

Class No.
Book No.
Reg No.

लेखक की रचनाओं के सम्बन्ध में कुछ प्रमुख सम्मतियाँ—

× × ×

कहानी संग्रहों के विषय में:—

नेशनल हैरल्ड, जून १९४०

"यह कहानियाँ संसार की किसी भी भाषा की श्रेष्ठ कहानियों के संग्रह में ऊँचा स्थान पाने योग्य हैं।"

कविवर मैथिलीशरण गुप्त

"विधाता ने लेखक को मुक्तहस्त होकर प्रतिभा और शक्ति दी है···हिन्दी कथा साहित्य अभी तक लेता ही रहा, राम कृपा से अब वह देने योग्य भी हो गया है। यह शक्ति हिंदी को ऐसी ही रचनाओं से मिल रही है······।"

उपन्यासों के विषय में:—

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

"यशपाल की परतूलिका स्थायी मूल्य की चीज़ों के लिए है··· 'देशद्रोही' संसार की उन्नत भाषाओं के उपन्यासों की तुलना में रखी जा सकती है।"

'आजकल' दिसम्बर १९४९ :—

'मनुष्य के रूप'—"उपन्यास वास्तविकता, कल्पना और उद्देश्यपरकता का अपूर्व मिलान है"

हिन्दुस्तान—नयी दिल्ली (जून १९४९)

"मतविरोध होने पर भी लेखक की कला का लोहा मानना ही पड़ता है·········।"

राजनैतिक निबन्धों के विषय में:—

आचार्य नरेन्द्रदेव, वाइस चांसलर, लखनऊ विश्वविद्यालय

"इन लेखों को पढ़कर आपके होठों पर जो मुस्कराहट आयेगी वह आत्मविस्मृति और आनन्दोल्लास की न होकर क्षोभ, परिताप और करुणा की होगी······। लेखक आत्मविस्मृत समाज को कलम की नोक से गुदगुदा कर जगाने की चेष्टा करता है और समाज को जागते न देख कभी कलम की नोक समाज के शरीर में गड़ा भी देता है।

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

'गांधीवाद की शव परीक्षा'—इस वर्ष की सर्वोत्तम और सर्वोपयोगी पुस्तक है···'

सिंहावलोकन के दूसरे भाग में हिं० स०प्र० स० के नये संगठन, दिल्ली में पुनः बड़ी बम फैक्टरी की स्थापना, वायसराय की ट्रेन के नीचे बमकांड, लाहौर षड्यंत्र के अभियुक्तों को छुड़ाने के प्रयत्न, यशपाल को प्राणदण्ड का निश्चय और निश्चय का परिवर्तन, कानपुर गोलीकांड, आलिरी-चक्कर, आजाद की वीर गति, यशपाल का कमांडर इन-चीफ निर्वाचित होना, यशपाल की गिरफ्तारी, जेल में विवाह, रिहाई के समय विशेष अड़चन आदि की कहानी होगी।

हिं० स० प्र० स० के अन्य प्रमुख कार्यकर्ताओं—चन्द्रशेखर आजाद, विजय कुमार शिव वर्मा, जयदेव कपूर, भगवान-दास, सदाशिव, यशपाल आदि के चित्र भी दूसरे भाग में दिये जा रहे हैं।

आध्यात्म के चोले में स्वामी श्रेणी के अधिकारों की रक्षा का प्रपंच।

गांधीवाद की शव परीक्षा के तीन संस्करण छप चुकने के पश्चात साथी यश-पाल ने पिछले संस्करणों से संतुष्ट न हो कर इस पुस्तक को आमूल लिखा है। अंध-विश्वास और वैज्ञानिक विचारधारा के सम्बन्ध में यह पुस्तक यशपाल के लम्बे परिश्रम का परिणाम है।

जो पाठक गांधीवाद की शव परीक्षा के पहले संस्करण पढ़ चुके हैं उनके लिए यह पुस्तक अनिवार्यतः आवश्यक है।

पाठक जनता भारतीय सशस्त्र क्रान्ति के रहस्यों के तथ्य जानने के लिये चिरकाल से उत्सुक प्रतीक्षा में थी। सिंहावलोकन से उनका समाधान हो सकेगा।

भारतीय सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टा के आन्दोलन के विषय में अनेक भ्रान्तियां और दन्तकथायें हुई हैं। साथी यशपाल इस आन्दोलन के सक्रिय नेताओं में से थे। शहीद चन्द्रशेखर आजाद के बाद वे ही 'हिन्दुस्तानी समाजवादी प्रजातन्त्र सेना' के कमांडर इन-चीफ निर्वाचित हुए थे। इस आन्दोलन के विषय में यशपाल से अधिक प्रामाणिक बात दूसरा कौन कह सकेगा?

पुस्तक में यशपाल की अपनी बात से अधिक चर्चा है उनके साथियों की। यह पुस्तक केवल रोमांचक घटनाओं का बही-खाता ही नहीं बल्कि क्रान्तिकारियों के जीवन के अन्तरतम रहस्यों से सम्बन्ध रखने वाले सैद्धान्तिक और मनोवैज्ञानिक सूत्रों की विवेचना भी इस में है। आप को क्रान्तिकारी आन्दोलन के नैतिक आधार और विचारधारा का भी प्रामाणिक विश्लेषण इस पुस्तक में मिलेगा।

'सिंहावलोकन' क्रान्तिकारियों के त्याग, आवेश-उत्तेजनामय और आपत्पूर्ण सामूहिक जीवन का वास्तविक उपन्यास है।

विप्लव प्रकाशन नं० —२९

सिंहावलोकन

हिन्दुस्तानी-समाजवादी-प्रजातंत्र सेना द्वारा भारत में
सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टा के सम्बन्ध में लेखक के
संस्मरण।

यशपाल

विप्लव कार्यालय, लखनऊ

जून १९५१

साढ़े चार रुपये

प्रकाशक
विप्लव कार्यालय,
लखनऊ

मुद्रक
साथी प्रेस,
शिवाजी मार्ग, लखनऊ

समर्पित है

मेरी यह स्मृतियां अपने उन साथियों की स्मृति में जिनके प्रति विश्वास और जिनके सहयोग के भरोसे अपने देश की जनता के लिये मनुष्यता के अधिकार पाने के संघर्ष में मृत्यु का भय भी रुकावट न डाल सका था।

और

आज के अपने उन साथियों को जो पहले किये जा चुके प्रयत्नों में असफलता के अनुभवों और भविष्य में भय की आशंका देख कर भी अपना सर्वस्व बाजी पर लगाने में झिझक नहीं दिखा रहे। अपने यह अनुभव उनके लिये उपयोगी हो सकने के विश्वास में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

यशपाल

अनुक्रमणिका

परिचय

पाठकों और परिचितों का यह बहुत पुराना आग्रह है कि मैं सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टा से सम्बन्ध रखने वाले अपने अनुभवों को प्रकाशित कर डालूं। इस बीच अपनी अनेक पुस्तकें प्रकाशित कर देने पर भी मैं इस आग्रह को स्थगित करता आया हूँ। इसका कारण यह नहीं कि मुझे अपनी उन स्मृतियों के लिये कोई संकोच या लज्जा अनुभव होती रही है। विपरीत इसके वे सब प्रयत्न और घटनायें मेरे जीवन और अस्तित्व से इतने घनिष्ट रूप में सम्बन्धित रही हैं कि उन्हें परखने और तटस्थ होकर उनके विषय में लिख सकने का साहस मैं जल्दी नहीं कर सका। साधारणतः मनुष्य घटना को अपने दृष्टिकोण और विश्वास के अनुसार ही समझता और प्रस्तुत करता है। इस ढंग को हम यथार्थ के प्रति नीर-क्षीर विवेक नहीं कह सकते। यदि मैं घटनाओं को अपने तत्कालीन विश्वास से रंग कर पाठकों के सामने रख देता तो यह काम मेरी अपनी दृष्टि में विशेष उपयोगी न होता।

इस काम में कई वर्ष का विलम्ब हो गया परन्तु मैं समझता हूँ कि उन घटनाओं और अनुभवों से इतनी दूर आकर आज मैं बहुत कुछ तटस्थ दृष्टिकोण से उनकी विवेचना कर सकूंगा। बहुत से पाठक हमारे आन्दोलन की घटनाओं के रहस्य और रोमांचकता से ही आकर्षित हैं। वे घटनायें रहस्यपूर्ण और रोमांचक तो हैं ही। परन्तु अधिक महत्व है इन घटनाओं की कारण विचारधारा का। मैं उस विचारधारा की भी चर्चा करना चाहता हूँ। इसका परिणाम सम्भवतः होगा कि इस कहानी में उद्गार की अपेक्षा विवेचना का प्राधान्य हो जाय। किसी भी व्यक्ति की आपबीती का उपयोग समाज के लिये हो भी यही सकता है। व्यक्तिगत अनुभवों की विवेचना इसी रूप में करने से व्यक्तियों और समाज की परिस्थिति और उनकी मानसिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया जा सकता है।

अपने अनुभवों के इस संग्रह का शीर्षक मैंने 'विप्लव' के प्रकाशन के समय, अर्थात् आज से बारह वर्ष पूर्व ही 'सिंहावलोकन' रख दिया था। बहुत से पाठक इस नाम से परिचित हैं। अपनी और उनकी सुविधा के विचार से इस पुस्तक को 'सिंहावलोकन' का ही नाम दे दिया है।

'सिंहावलोकन' शब्द में अपने आपको 'सिंह' समझ कर अपनी पीठ की ओर देखने की भावना का संतोष या दम्भ नहीं है। मैं अपने आपको 'सिंह' नहीं, 'आदमी' समझता हूँ। इसी नाते ही अपने जीवन से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का विश्लेषण करके उन्हें विचार के लिये दूसरों के सम्मुख रख सकता हूँ।

'आत्मकथा' या 'आपबीती' लिख कर मैं पाठकों के सम्मुख आदर्श मार्ग रखने का संतोष अनुभव नहीं कर सकता। इसलिये इस कहानी को केवल स्मृतियों और अनुभवों का विचारार्थ वर्णन ही समझा जाना चाहिये। हम सभी लोग समाज की व्यापक हांडी के एक-एक चावल हैं। हांडी की अवस्था जानने के लिये कुछ चावलों को निकाल कर परख लिया जाता है। इस कहानी के रूप में मैं अपने पाठकों के सम्मुख अपने आपको एक चावल के रूप में प्रस्तुत करने का साहस कर रहा हूं क्योंकि मैं अपने समाज की हांडी की अवस्था परखी जाने के लिये उत्सुक हूँ।

जनता की पुरानी मांग है कि भारत में सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टा का संबद्ध और प्रामाणिक इतिहास सामने आवे। इस काम में अनेक कठिनाइयां हैं। भारत में किये गए सशस्त्र क्रान्ति के प्रयत्नों का प्रामाणिक इतिहास लिखने या संग्रह करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि यह प्रयत्न गुप्त रूप से किये गये थे। इन प्रयत्नों को जारी रखने के लिये ही इनका गुप्त रखना भी आवश्यक था। जब कभी इन प्रयत्नों से सम्बन्ध रखने वाली घटनायें प्रकाश में आयीं, अंग्रेज सरकार ने उन्हें जघन्य अपराधों का रंग देने की चेष्टा की। जब कभी कांग्रेस के महापुरुषों को इस सम्बन्ध में कहने की आवश्यकता हुई, उन्होंने इन्हें देशभक्ति के उन्माद से अन्धे पथभ्रष्ट नवयुवकों की बाल्यसुलभ लीला बता दिया। और यदि कभी स्वयं क्रान्तिकारियों को इस विषय में कुछ कहने का मौका मिला तो उन्होंने अपने कामों पर अभूतपूर्व त्याग का आवरण चढ़ा देना चाहा। ये घटनायें अपने यथार्थ रूप में कभी जनता के सामने आ ही नहीं सकीं। मेरी इच्छा है, उन्हें उनके वास्तविक रूप में रख देने की।

मेरी इस व्यक्तिगत कहानी को अथवा किसी भी व्यक्ति की कहानी को इतिहास का नाम नहीं दिया जा सकता। व्यक्तियों के अनुभवों और समाज के इतिहास में वही सम्बन्ध है जो कि मनकों और माला में होता है। मनकों को माला नहीं कहा जा सकता परन्तु मनकों के

बिना माला बन भी नहीं सकती। यह संस्मरण इतिहास कहलाने का दावा नहीं कर सकते परन्तु क्रान्तिकारी आन्दोलन की घटनाओं और उस आन्दोलन की विचारधारा के परिचय के लिये प्रामाणिक अन्तर-दृष्टि अवश्य दे सकेंगे। यह संस्मरण व्यक्तिगत जान पड़ेंगे क्योंकि व्याकरण की दृष्टि से प्रथम पुरुष में या कर्तावाचक (Subjective mood) में लिखे गये हैं। इस रूप में लिखने का प्रयोजन यह है कि इनकी सचाई और वास्तविकता का उत्तरदायित्व मुझ पर है। परन्तु इन संस्मरणों में मेरी अपनी व्यक्तिगत बातें ही नहीं हैं। मेरी निजी बातों की अपेक्षा इनमें मेरे साथियों की बातें ही अधिक पायी जायेंगी। जिस समय जिस अनुपात में जिस साथी का आन्दोलन या घटना विशेष में जैसा स्थान रहा है, उसी अनुपात में मैंने उनकी या उनके सम्बन्ध से अपनी चर्चा इन संस्मरणों में की है। यह संस्मरण व्यक्तिगत इसलिये भी समझे जाने चाहियें कि मैं व्यक्तिगत परिचय के आधार पर सब बातों का विवरण और विश्लेषण करने की चेष्टा कर रहा हूं, उस समय का इतिहास एक व्यक्ति के संस्मरणों के सूत्र से प्रकट कर रहा हूँ। संस्मरणों के व्यक्तिगत होने पर भी मैंने केवल स्मृति पर ही भरोसा नहीं किया है, स्मृति को यथासम्भव प्रामाणिक आधारों द्वारा सही कर लेने की भी कोशिश की है।

अब तक क्रान्तिकारी प्रयत्नों के विषय में इतिहास के नाम से जो कुछ लिखा गया वह अधिकांश में अफवाहों के आधार पर ही लिखा गया है। इस कहानी के लिये दावा है कि अफवाह का सहारा नहीं लिया गया। यदि कभी कोई कर्मठ व्यक्ति क्रान्तिकारी प्रयत्नों का प्रामाणिक इतिहास लिखने का बीड़ा उठायेगा तो यह स्मृतियां उसके लिये प्रामाणिक पदार्थ प्रमाणित हो सकेंगी। संस्मरणों को संकलित करने में अपने शेष पुराने साथियों, साथी शिव वर्मा, और जयदेव कपूर से बहुत सहायता मिली है। सर्दार भगतसिंह के छोटे भाई कुलबीरसिंह ने भी आवश्यक प्रामाणिक ब्यौरे और चित्र देकर मेरी बहुत सहायता की है। मैं अपने इन सभी साथियों के प्रति विशेष आभारी हूं। इस भाग में मैंने केवल लाहौर में बम फैक्टरी पकड़े जाने तक की घटनाओं का ही वर्णन किया है। अधिकांश महत्वपूर्ण घटनायें और उनके आधारभूत विचार अगले भाग में आ सकेंगे।

यशपाल

१

जोखिम की ओर प्रवृत्ति

नया परिचय होने पर जब किसी सज्जन को पता चलता है कि मैं सशस्त्र क्रान्ति के आन्दोलन में भाग ले चुका हूँ, सरकार ने मुझ पर वायसराय लार्ड इरविन की स्पेशल ट्रेन के नीचे बम विस्फोट करने का तथा और भी दूसरे अनेक ऐसे अभियोग लगाये थे और ऐसे ही अपराधों के लिये मैं लम्बी जेल भी काट चुका हूँ, तो उनकी आँखों में कौतूहल की चमक आ जाती है। आश्चर्य से मेरे चेहरे की ओर देख वे कुछ क्षण के लिये चुप रह जाते हैं और विचित्र प्रश्न कर बैठते हैं।

यह प्रश्न भिन्न-भिन्न लोगों के अपने मानसिक विकास के अनुसार होते हैं। कुछ लोग तो सीधे यही पूछ बैठते हैं कि आप लोगों को बम, पिस्तौल, कारतूस, बंदूकें और रुपया कहां से मिल जाता था ? उनके इस प्रश्न में यह लालसा दबी रहती है कि यह सब वस्तुएँ पाने का कोई सरल उपाय मैं उन्हें भी बता सकूं तो बहुत अच्छा हो। उन्हें कोई कड़ा उत्तर दे देना उचित नहीं जान पड़ता। घुमा फिरा कर यही समझाना पड़ता है कि आवश्यकता होने पर मनुष्य कोई न कोई राह खोज ही लेता है।

कुछ लोग इससे भी बेढब सवाल पूछ बैठते हैं:—"क्या आप लोगों का क्रान्तिकारी संगठन अब भी कायम है ?" ऐसे भले आदमियों की समझ की थाह पा लेना कठिन नहीं। ऐसे लोगों को सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टा से कोई सैद्धान्तिक सम्बन्ध नहीं है। उन्हें किसी भी आन्दोलन के रूप और सामाजिक परिस्थितियों में कोई संपर्क नहीं जान पड़ता। उन्हें यह समझाना भी कठिन हो जाता है कि सशस्त्र क्रान्ति का आन्दोलन देश की खास परिस्थितियों के कारण ही होता है। अमित शक्ति

सम्पन्न ब्रिटिश साम्राज्यशाही की सतर्कता के बावजूद इस देश में ऐसा आंदोलन आरम्भ हो गया था और देश की बदलती परिस्थितियों में विकास करता हुआ यह आन्दोलन अब दूसरा ही रूप ले चुका है।

कुछ गम्भीर लोग प्रश्न करते हैं :—"आप लोगों की प्रवृत्ति इस प्रकार के कार्यक्रम की ओर कैसे हो गयी ?" यह प्रश्न बहुत संगत है। इस प्रश्न से मुझे कोई उलझन अनुभव नहीं होती ; क्योंकि सशस्त्र क्रान्ति के आन्दोलन में हम लोगों ने किसी आवेश या अल्हड़पन की अवस्था में भाग नहीं लिया था।

यह प्रश्न इतनी अधिक बार पूछा गया है कि इसका एक व्यापक उत्तर मेरे मस्तिष्क में बन गया है ; बल्कि वह उत्तर एक पूरी कहानी ही है। उसे दो शब्दों में कह देना सम्भव नहीं। इस कारण प्रायः प्रश्न-कर्ता के कौतूहल को पूर्ण करने में असमर्थ रहा हूँ और उचित उत्तर न दे सकने के कारण प्रायः टाल देना पड़ा है। एक बार यह प्रश्न मुझसे एक बहुत ही जिम्मेवार व्यक्ति ने पूछा था। नाम बता देने में भी कोई हानि नहीं। आप थे मिस्टर हालैंड्स, उस समय युक्तप्रान्त के पुलिस विभाग के इन्सपेक्टर जनरल।

यह बात १९३२, २३ जनवरी की है। मैं लाहौर और दिल्ली षड्यंत्रों के अभियोगों में फ़रार था। पुलिस तीन वर्ष से मेरी विफल खोज कर रही थी। २२ जनवरी की रात पुलिस को इलाहाबाद में मेरे ठहरने के स्थान का सुराग मिल गया था। सशस्त्र पुलिस ने बड़ी संख्या में आकर मकान को घेर लिया। इस घटना का ब्योरेवार वर्णन तो यथा स्थान करूँगा। यहाँ इतना ही पर्याप्त है कि पुलिस के साथ कुछ देर तक गोली चली। मेरे कारतूस समाप्त हो जाने पर मुझे गिरफ़्तार करके इलाहाबाद के कैनिंग रोड पुलिस स्टेशन की हवालात में बन्द कर दिया गया।

हवालात में पहुँचे अभी पैंतालीस मिनिट या एक घंटे के लगभग ही हुआ होगा कि दो अंग्रेज सज्जन मुझसे भेंट करने वहाँ आये। इन में से जो अधिक रोबीले थे उन्हीं ने आगे बढ़ कर मुझे सम्बोधन किया—"At last we have got you (आखिर तुम हमारे हाथ पड़ ही गए)।"

यह सम्बोधन कुछ सहानुभूतिपूर्ण नहीं था। संभव है हम लोगों में इसके बाद होने वाली बातचीत पर उनके इस व्यवहार का भी असर

पड़ा हो। मैं उन्हें पहचानता न था इसलिये अंग्रेजी में ही उन से प्रश्न किया—"मैं नहीं जानता कि किस सज्जन से मिलने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हो रहा है।"

मेरे इस प्रश्न से साहब के चेहरे पर विस्मय दिखाई दिया। अपने रोब के ढंग को कुछ ढीला कर वे बोले—"आप हमें नहीं पहचानते ? हमारी खोपड़ी पिस्तौल से उड़ा देने के लिये आपने हमारे बंगले के बीसियों चक्कर लगाये होंगे !"

साहब की इस अहम्मन्यता से कुछ हंसी आई। उत्तर दिया—"संभव है इस आशंका में आपकी बहुत सी रातें अनिन्द्रा में गुजरी हों, या इस विचार से आपने गौरव अनुभव किया हो परंतु मेरा दुर्भाग्य है कि मैं आपको पहचानता भी नहीं।"

साहब कुछ और ठंडे पड़े, बोले—"मेरा नाम हालैंड्स है। मैं यू० पी० पुलिस का इन्सपेक्टर जनरल हूं।"—अपने साथी की ओर संकेत कर उन्होंने बताया—"यह मिस्टर शा हैं, यू० पी० पुलिस के जासूसी विभाग के डिप्टी इन्सपेक्टर जनरल।"

साहब रोब के घोड़े से उतर चुके थे और शिष्टता से बात करने लगे। मैंने भी शिष्टता से पूछा—"मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?"

छूटते ही उन्होंने प्रश्न किया—"आपने इस मार्ग को क्यों अपनाया ?"

"क्योंकि दूसरा कोई मार्ग था ही नहीं। दूसरे किसी तरीके से आप सुनते ही नहीं।"—उत्तर दिया।

सहनशीलता से साहब ने फिर प्रश्न किया—"क्या मतलब ?"

उत्तर दिया—"मतलब आप खूब समझते हैं। आप भी जानते हैं कि इस देश के ९९ प्रतिशत आदमी कैसे भूखे, नंगे रह कर निर्जीव और निरुत्साह हो रहे हैं और उन्हें अपनी अवस्था सुधारने का कोई अवसर नहीं। उनके प्रयत्नों पर आपके विदेशी शासन की गुलामी का शिकंजा कसा हुआ है। इस विदेशी शासन से मुक्ति के लिए ही हमारा यह प्रयत्न है।"

मिस्टर हालैंड्स ने स्वीकार किया कि भारत की जनता असन्तुष्ट, दुखी और दुरावस्था में है और इस प्रजा को स्वतंत्रता प्राप्त करने के

लिए चेष्टा करने का भी अधिकार है। परन्तु साथ ही उन्हों ने यह भी सुझाया कि इस देश के लिये स्वतंत्रता प्राप्त करने का उचित रास्ता है गाँधी जी का आन्दोलन।"

उस समय हॉलैंड्स को उत्तर दिया था:—"गाँधी जी के आन्दोलन की आप परवाह ही क्या करते हैं? यदि गांधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन को आप उचित समझते हैं तो आप उन पर लाठी चार्ज क्यों करते हैं? गोलियाँ क्यों चलाते हैं और आपने गांधीवादी काँग्रेस को गैर-कानूनी संस्था क्यों करार दे रखा है?"* एक विदेशी शासक को इसके अतिरिक्त और क्या उत्तर दिया जा सकता था? परन्तु गांधीवादी स्वराज्य आन्दोलन के प्रति क्रान्तिकारियों की अश्रद्धा का कारण अंग्रेज सरकार द्वारा उस आंदोलन की परवाह न करना नहीं बल्कि क्रान्तिकारियों का स्वयं गांधीवादी स्वराज्य आंदोलन में ही अविश्वास था। गांधीवादी कांग्रेसी आंदोलन में अविश्वास ही क्रांतिकारियों को सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टा की ओर ले जा रहा था।

यहाँ कहानी के आरम्भ में ही मैंने इस प्रसंग की चर्चा केवल यह दिखाने के लिए की है कि क्रान्तिकारियों को जोखिम के मार्ग की ओर कौन प्रवृत्ति खींच ले जाती है, यह प्रश्न भारतीय स्वतंत्रता के समर्थक और विरोधी प्रायः सभी लोगों के मस्तिष्क में उठता रहा है। क्रान्तिकारियों से जब भी यह प्रश्न पूछा जाता है कि जोखिम के मार्ग को उन्होंने क्यों चुना तो इस प्रश्न की पृष्ठभूमि में यह मूक प्रश्न भी उपस्थित रहता है कि क्या गांधीवादी कांग्रेस के स्वराज्य आन्दोलन से तुम्हारा संतोष नहीं हो सकता था? अर्थात् गांधीवाद के अपेक्षाकृत कहीं अधिक निरापद मार्ग को छोड़ कर, जिसमें अधिकतर छः महीने की जेल और उसके बदले में जनता का जै-जैकार मिल सकता था, तुमने हिंसक जन्तुओं की तरह पुलिस से छिप कर काम करने और पकड़े जाने पर उम्र कैद और फाँसी की सम्भावना के मार्ग को क्यों चुना? प्रश्न का तत्व है कि क्रान्तिकारियों को स्वराज्य के गांधीवादी आन्दोलन में विश्वास और श्रद्धा क्यों न थी?

* सन १९३२ तक अंग्रेज सरकार कांग्रेस को कई बार गैर-कानूनी करार दे चुकी थी।

संक्षेप में सशस्त्र क्रान्ति के आन्दोलन का कारण यही बताया जाता है कि राष्ट्रीय अपमान और भूख से सिसकती देश की जनता की निराश, कातर आँखें और उनका करुण-क्रंदन ही देश के उग्र स्वभाव नवयुवकों को आवेश में उन्मत्त बना कर प्राणों की बाजी लगा देने के लिये विवश कर देता था। यह संक्षिप्त उत्तर पर्याप्त नहीं। स्वराज्य के गांधीवादी आन्दोलन में भाग लेने वाले नवयुवक भी तो राष्ट्रीय परतंत्रता के दुख और अपमान का प्रतिकार करने के लिये ही अपने विश्वास के अनुसार आगे बढ़े थे। प्रश्न तो यह है कि क्रान्तिकारियों का सन्तोष इस मार्ग से क्यों नहीं हो सका ?

सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टा में सम्मिलित हो कर प्राणों की बाजी लगा देने वाले गिने-चुने युवकों के इलावा इस देश में और लाखों ही युवक थे जो यह सब कुछ देख रहे थे। यह भी संभव है कि देश के लाखों युवकों में से काफी बड़ी संख्या ऐसे लोगों की निकल आती जो उस आंदोलन के सम्पर्क में आ जाने पर उसमें योग देने के लिए तैयार हो जाते परन्तु वे अधिकांश युवक स्वयं किसी ऐसे आन्दोलन को बना नहीं पाये और इन गिने-चुने युवकों ने ही स्वयं सशस्त्र क्रान्ति के आंदोलन का संगठन कर लिया था। निश्चय ही इन लोगों में राष्ट्रीयता की भावना और राष्ट्रीय अपमान की अनुभूति दूसरों की ही तरह होने पर इनकी परिस्थितियों में कुछ भेद रहा होगा जिसके कारण स्वराज्य के गांधीवादी आन्दोलन का ढंग उन्हें विश्वास योग्य नहीं जान पड़ा। परन्तु यह कैसे और क्यों कर हुआ ? इसी प्रश्न का उत्तर मैं अपनी जानकारी के आधार पर देना चाहता हूँ।

कहा जाता है कि लाहौर के दोनों क्रान्तिकारी षड़यंत्रों, वाइसराय की ट्रेन के नीचे बमकांड और देहली-षड़यंत्र तथा इनसे सम्बन्धित कानपुर और देहरादून षड़यंत्रों का आरम्भ लाहौर में पुलिस के असिस्टेंट सुपरिंटेंडेन्ट मि० जे० पी० सैंडर्स की हत्या से हुआ। मि० सैंडर्स की हत्या का कारण बताया जाता है, लाहौर में साइमन कमीशन के आने के अवसर पर जनता द्वारा विरोध प्रदर्शन के समय सैंडर्स का पंजाब केसरी लाला लाजपतराय पर आघात करके इस राष्ट्र का अपमान करना।

पंजाब केसरी लाला लाजपतराय पर आघात करके अंग्रेजी सरकार की नौकरशाही ने भारत का जो राष्ट्रीय अपमान किया उसका प्रति-

कार करने के लिये क्रान्तिकारी दल (हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र सेना) के युवक अपने प्राणों की बाजी लगा देने के लिए तैयार हो गये। पंजाब में हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र सेना के अधिकांश सदस्य लाला लाजपतराय जी द्वारा लाहौर में संस्थापित पंजाब नेशनल कालिज के विद्यार्थी थे, यह बात भी ठीक है। परन्तु यह नवयुवक लाला जी के उस समय के राजनैतिक मार्ग और आदर्शों के प्रति अनुरक्त नहीं थे। सन १६२६ में जब लालाजी ने, उसके चाहे जो भी कारण रहे हों, केन्द्रीय असेम्बली में नेशनल स्वराज्य पार्टी बना कर अपनी शक्ति कांग्रेस की अपेक्षा हिन्दू-संगठन की ओर लगानी शुरू कर दी, नेशनल कालिज के अधिकांश विद्यार्थी राजनैतिक रूप से लालाजी से विरक्त हो गये। लाला लाजपतराय और पंडित मोतीलाल नेहरू के राजनैतिक विवाद में पंजाब नेशनल कालिज के विद्यार्थियों की सहानुभूति पं० मोतीलाल नेहरू के प्रति ही अधिक थी।

पंजाब केसरी लाला लाजपतराय की राजनीति साम्प्रदायिकता के पक्ष में ढल जाने पर क्रान्तिकारी दल के युवकों के हृदय में उनके प्रति विरक्ति हो गयी थी। लाला जी का अनुराग और आशा भी नेशनल कालिज के प्रति क्षीण हो चुकी थी। वे अपनी नयी स्थापित सर्वेंटस आफ पीपल्स सोसाइटी पर ही ध्यान दे रहे थे। राजनैतिक मतभेद के बावजूद ला० लाजपतराय देश के बहुत ही प्रतिष्ठित राजनैतिक नेता थे और एक समय लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के सहयोगी और बहुत ही उग्र नेता भी रह चुके थे। बृटिश नौकरशाही ने उन पर जो आघात किया उसे क्रान्तिकारी युवकों ने देश के राष्ट्रीय सम्मान पर आघात समझा। उन्होंने राजनैतिक दलों के पारस्परिक मतभेद को महत्व देने के बजाय विदेशी शासनविरोधी राष्ट्रीय भावना को ही महत्व दिया।

क्रांति के आन्दोलन की एक घटना के रूप में उपरोक्त प्रकट परिस्थितियों का वर्णन ठीक है परंतु पंजाब केसरी लाला लाजपतराय पर आघात का बदला लेने का उद्देश्य केवल लाला जी के प्रति व्यक्तिगत श्रद्धा ही नहीं थी। इस अवसर और घटना से क्रान्तिकारी दल जनता की बृटिश शासन-विरोधी भावना को अपनी ओर आकर्षित कर लेना चाहता था। लाला जी की हत्या का बदला स्वतः उद्देश्य नहीं बल्कि एक व्यापक उद्देश्य की ओर बढ़ने का साधन मात्र था।

लाला जी पर आघात द्वारा राष्ट्रीय अपमान की घटना को जादू का ऐसा मंत्र नहीं समझ लिया जा सकता जिस जादू के मंत्र के बल से पंजाब और युक्तप्रांत में क्रांतिकारी दल सहसा उठ खड़े हुए। कोई भी विवेकशील व्यक्ति ऐसी कल्पना पर विश्वास नहीं कर सकता।

सैंडर्स की हत्या का अभियोग चंद्रशेखर आज़ाद, भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव पर लगाया गया था। पुलिस ने अपनी गवाहियों से यह भी प्रमाणित कर दिया था कि इस हत्या के पीछे एक बड़े अन्तर-प्रान्तीय दल की आयोजना थी। आज़ाद मध्य भारत में दोहद के और राजगुरु बनारस के निवासी थे। भगतसिंह और सुखदेव पंजाबी थे। यह विश्वास कि लालाजी पर किये गये आक्रमण से कुछ ही मास के अंदर महाराष्ट्र, युक्त-प्रांत और पंजाब के राष्ट्र अभिमानी युवक किसी चुंबक मंत्र की शक्ति से संगठित होकर प्रकट हो गए, विश्वास करने योग्य बात नहीं।

यह स्पष्ट है कि आंदोलन और उसका संगठन पहले से मौजूद थे और वे अपना कार्य आरंभ करने के लिये एक अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। लाहौर षडयंत्र या हिंदुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र सेना के संगठन से पूर्व भी देश में सशस्त्र क्रांति की चेष्टा के प्रयत्न H.R.A. (Hindustan Republic Association) के रूप में प्रकट हो चुके थे। इसका प्रमाण जनता के सामने काकोरी षड़यंत्र के रूप में १९२६ में आ चुका था। उससे भी पहले १९१४ में पंजाब और युक्तप्रांत में बाबू रासबिहारी बोस के नेतृत्व में क्रांति की चेष्टायें हो चुकी थीं, जिनका वर्णन स्वर्गीय श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल अपनी आत्मकथा में कर चुके हैं। इन प्रयत्नों का परिचय जनता को लाहौर में 'लारेंस गार्डन-बमकांड' और देहली में लार्ड हार्डिंग पर फेंके गये बम के विस्फोट से मिल चुका था। भारत की गुलामी के इतिहास में सशस्त्र क्रान्ति के प्रयत्न लगातार होते ही रहे हैं। पंजाब में गदर पार्टी, बंगाल में अनुशीलन और युगांतर संगठनों, महाराष्ट्र में चापेकर बंधुओं और मद्रास में वासराव के दलों द्वारा सशस्त्र क्रांति की चेष्टा किसी न किसी रूप में सदा ही जीवित रही है। देश के नवयुवकों के हृदय से विदेशी दासता से मुक्ति की इच्छा का सूत्र कभी भी निर्मूल नहीं हुआ परंतु इन प्रयत्नों

के प्रकट विस्फोट निरंतर श्रृंखला के रूप में न होकर देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार जहाँ तहाँ सीमित रहे हैं।

सशस्त्र क्रान्तिकारी आंदोलन की विवेचना करते समय ध्यान दो बातों की ओर जाता है। एक तो इस क्रान्ति के लिए विद्रोह को उत्पन्न करने वाली देश की परिस्थितियाँ और दूसरी, नवयुवकों के ऐसे संगठन जिनके द्वारा यह विद्रोह प्रकट हुआ। विद्रोह को उत्पन्न करने वाली परिस्थितियाँ तो देश भर में सदा ही मौजूद रहीं परंतु विद्रोह को प्रकट करने वाले युवकों के संगठन कहीं कहीं ही दिखाई दिये। इसलिये इन युवकों को संगठन का अवसर और प्रोत्साहन देने वाली, इन युवकों से संबन्ध रखने वाली विशेष परिस्थितियों और इन युवकों के व्यक्तिगत अनुभवों, आचार व्यवहार और प्रवृत्तियों का परिचय और विश्लेषण सशस्त्र क्रांति के प्रयत्न की कहानी को सुलझाने में सहायक हो सकते हैं।

मैं यह कहानी व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर लिख रहा हूँ। भगतसिंह, सुखदेव और मैं कालिज में सहपाठी थे। भगवतीचरण हम लोगों से दो बरस आगे थे। सहपाठी ही नहीं, हम लोगों में विशेष आंतरिकता भी थी। इस आंतरिकता का भी कुछ कारण होगा ही। इस आंतरिकता द्वारा मैं उन लोगों की परिस्थितियों को भी जान सका हूँ।

भगतसिंह का पारिवारिक घर लाहौर से लगभग कुछ मील दूर सांडा गाँव में था। सुखदेव लायलपुर का रहने वाला था। भगवतीचरण बोहरा लाहौर के ही रहने वाले थे। मेरे परिवार का आदिम स्थान तो कांगड़े का पहाड़ी जिला है परंतु पंजाब नेशनल कालिज में मैं फिरोजपुर से पहुँचा था। लाहौर के पंजाब नेशनल कालिज में, जहाँ कि हि० स० प्र० से० की प्रथम धूनी सुलगी, हम लोगों का आ मिलना कैसी परिस्थितियों में संभव हुआ और किन प्रवृत्तियों के कारण हम लोग एक दूसरे की ओर आकर्षित हुए या हमने एक दूसरे में कुछ ऐसी बात विश्वास के योग्य पायी जिसके कारण ज़िंदगी मौत के खेल में साथी बन गए; इस चर्चा के लिए इससे पहले की भी कुछ बातें अप्रासंगिक न होंगी। नेशनल कालिज के साथियों के इलावा दूसरे साथियों की भी चर्चा जिस क्रम से उनसे परिचय हुआ उसी क्रम से करूंगा। यद्यपि मैं अपनी ही कहानी लिख रहा हूँ, परन्तु हम सब का व्यवहार एक दूसरे के प्रभाव पर निर्भर करता था।

प्रसिद्ध क्रांतिकारी सान्याल दादा ने भी अपनी आपबीती "बन्दी-जीवन" में क्रान्तिकारियों की जोखिम की ओर झुकने की विशेष मनोभावना का उल्लेख किया है। वे जरा मजे में आकर कह गए हैं कि उनके विचार से क्रान्तिकारियों के दिमाग में किसी हद तक पागलपन की झलक रहती है इसके लिये उन्हों ने स्वयं अपने तथा कुछ दूसरे सहयोगियों के परिवारों से पैतृक प्रभाव के कारण पागलपन के उदाहरण भी दे दिये हैं। कुछ क्रान्तिकारियों ने इस सहज और निरीह परिहास से अपमान अनुभव किया है। सान्याल दादा का प्रयोजन क्रान्तिकारियों का या अपना अपमान करना नहीं था। विपरीत इस के वे अपने आपको और दूसरे क्रान्तिकारियों को भी किसी हद तक सर्वसाधारण की अपेक्षा अधिक आत्मिक शक्ति-सम्पन्न समझ कर गौरव ही अनुभव करते थे।

पागलपन से सान्याल दादा ने क्रान्तिकारियों में जन्मगत असांसारिकता और त्याग की भावना की ही व्यंजना की है। जन्मगत असांसारिक भावना किसी समय लोगों में जन्म से ही वैराग्य के रूप में प्रकट होती थी। वे भक्त ध्रुव और चैतन्य महाप्रभु की तरह जन्म से ही माया से मुक्त हो जाते थे। असांसारिकता तथा माया से वैराग्य की भावना क्रान्तिकारियों में प्रबल संघर्ष की प्रवृत्ति पैदा कर दे, यह दोनों बातें परस्पर विरोधी जान पड़ती हैं। क्रान्तिकारियों के जोखिम से न डरने की प्रवृत्ति को अपने देश और समाज के प्रति अत्यन्त लिप्ति का ही परिणाम माना जा सकता है।

कुछ लोग इसे आवेश और मूढ़तापूर्ण देशभक्ति का ही नाम देते रहे हैं। विदेशी सरकार इसे दुस्साहसी युवकों की अपराध की ओर प्रवृत्ति या मानसिक विकृति ही बताती थी। आज कम्युनिस्टों के साथ भी कुछ ऐसा ही हो रहा है। आज जनता को सरकार की बात पर विश्वास हो जाता है क्योंकि सरकार अपने आपको जनता की सेवक बता रही है। यदि लिप्ति और त्याग एक ही प्रवृत्ति या मूल भावना के दो भिन्न-भिन्न परिणाम हैं तो इसमें जन्मगत प्रवृत्तियों से अधिक महत्व जान पड़ता है भिन्न-भिन्न परिस्थितियों का। किसी वस्तु के लिए अपने आपको बलिदान कर देने की इच्छा त्याग नहीं बल्कि स्वयं उसमें डूब जाना या लिप्ति की पराकाष्ठा ही है। क्रान्तिकारी आन्दोलन को निर्मूल कर देने या उसे सफलता पूर्वक दबा देने के लिए ब्रिटिश सरकार ने

जिन उपायों का उपयोग किया, उनमें क्रान्तिकारियों की मानसिक प्रवृत्ति का विश्लेषण भी था। लगभग १९३५ में सरकार ने भारत की कई जेलों में बन्द क्रान्तिकारियों को एक प्रश्नावलि उत्तर देने के लिए दी थी। क्रान्तिकारियों ने इस प्रश्नावलि की उपेक्षा कर इसे मजाक में उड़ा दिया क्योंकि उन्हें सरकार के प्रयोजन के प्रति सद्भावना का कोई सन्देह नहीं था। इस प्रश्नावलि में लगभग बीस प्रश्न थे जिन का सम्बन्ध क्रान्तिकारियों की शिक्षा-दीक्षा, वैवाहिक जीवन, पारिवारिक आर्थिक स्थिति, बजुर्गों के कारोबार और पारिवारिक वातावरण आदि से था। सरकार जिन मनोवैज्ञानिकों की सहायता से क्रान्तिकारी प्रवृत्ति की रोक-थाम करने का यत्न कर रही थी, उनके विचार में इस प्रवृत्ति की जड़ या इस ओर झुकाव का कारण क्रांतिकारियों की वैयक्तिक परिस्थितियों से ही था।

भगतसिंह

सशस्त्र क्रान्तिकारी आंदोलन के जिस काल से मेरा व्यक्तिगत सम्बध रहा है उसमें भगतसिंह का स्थान बहुत महत्वपूर्ण था। क्रान्ति की चेष्टा या राजनैतिक बातों के अलावा भी सहपाठी और मित्र के रूप में भगतसिंह की संगति में बहुत बड़ा आकर्षण था। वह स्वयं बहुत विनोदप्रिय होने के साथ-साथ दूसरों के लिए विनोद का अच्छा खासा साधन भी था। भगतसिंह का उस समय का रूप और उसके वर्तमान ऐतिहासिक महत्व और स्थान में बड़ा अन्तर है। भगतसिंह के जो सुघड़ और चुस्त चित्र हैट पहने और मूंछों पर मुर्री दिये आज जगह-जगह दिखाई देते हैं, उनसे भगतसिंह के उस समय के रूप और व्यवहार की कल्पना नहीं की जा सकती। कद लम्बा और चेहरे का रंग साफ़ होने पर भी हल्की-हल्की दाढ़ी-मूँछ से घिरा चेहरा। उभरी हुई परन्तु हल्की भवें और छोटी-छोटी आंखें। सिर पर ढीले-ढाले बांधे केशों पर दोनों छोर लटकती छोटी सी पगड़ी। प्रायः खद्दर के मैले और शरीर से बे नाप कपड़े। कमर में प्रायः पायजामे की जगह लुंगी पहन कर ही उसका कालिज आ जाना। हम लोगों का सहपाठी झंडासिंह (अब स० जसवन्तसिंह) उसकी आँखों की उपमा लड्डू में फंसे बादामों और उस के रूप की उपमा जवान अल्हड़ ऊंट (बोत्ता) से दिया करता था।

दूसरी ओर समय आने पर उसी भगतसिंह का रूप और करतूत

दोनों ही ऐसे निखरे कि उसे फांसी दी जाने के समाचार की पहली चोट जब हल्की पड़ गयी तो उस अनिवार्य चोट को सह्य मजाक बना डालने के लिये पंजाब की एक प्रमुख महिला कह बैठीं—"आज जाने देश की कितनी महत्वाकांक्षी कुमारियों के हृदय विधवा हो गये।" भगतसिंह देश के युवक-युवतियों के स्वप्न का आदर्श बन गया था। उस समय भगतसिंह को बुद्धू बनाने में मजा आता था। मैं स्वयं भी काफी बुद्धू बनता रहा हूँ बल्कि हम सभी को किसी न किसी समय बुद्धू बनना ही पड़ता था। एक समय खिलवाड़ का साधन भगतसिंह अपनी कार्य-शीलता और निष्ठा से आज गौरव का कारण बन गया है। इसके अति-रिक्त कितनी ही रहस्यमय दंतकथाओं ने भी भगतसिंह की स्मृति को लपेट लिया है। इन दन्तकथाओं की तुलना में उन दिनों की वास्तविकता कह डालने में यह संकोच होता है कि कुछ पाठक यही न समझ लें कि मैं उसके महान व्यक्तित्व को अपने समतल खींच कर अपनी महत्ता बढ़ाने के लिय उसे नीचे गिरा रहा हूँ।

ऐसी एक दंतकथा मैंने १६३५ में फतेहगढ़ सेंट्रल जेल में कानपुर के श्री० शिवराम पांडे से ही सुनी थी। पांडे जी उस समय के प्रसिद्ध कांग्रेसी कार्यकर्त्ता थे। उस कहानी की प्रामाणिकता के लिये मेरा सम-र्थन चाहते थे। कहानी यह है,—"सरदार भगतसिंहजी और बटुकेश्वर-दत्त जी जब विलायत से लौट रहे थे, जहाज पर कुछ अंग्रेजों ने भारत की शान के विरुद्ध कुछ अपशब्द कहे। भगतसिंह जी और दत्त जी ने उन लोगों को कान से उठा कर समुद्र में फेंक दिया।"

मैं यह कहानी सुन कर चकित रह गया। खास कर इसलिए कि पांडे जी प्रमुख राजनैतिक कार्यकर्त्ता होने के अलावा यूनिवर्सिटी के ग्रेजुएट भी थे। भगतसिंह को फाँसी लगे उस समय तीन ही वर्ष हुए थे। इसी बीच ही इतनी पौराणिक गाथाएँ प्रचलित हो गई थीं। सोचिए, कान से उठा कर आप कुत्ते के पिल्ले से बड़े किस जानवर को पानी में फेंक दे सकते हैं? यह कहानी सुनकर विश्वास कर लेने वालों की कल्पना में भगतसिंह या दत्त के शरीर में दो-चार हाथियों का बल तो रहा ही होगा। ऐसी अवस्था में दो-अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व के योद्धाओं भीम, अर्जुन के शरीर में सौ-सौ हाथियों के बल की कल्पना कर लेना कौन अचरज की बात है? भगतसिंह के विलायत जाने की बात निरी

कपोलकल्पना है। उसके चाचा स्वर्गीय अजीतसिंह के अतिरिक्त, जो राजनैतिक अभियोग में फरार होकर चले गए थे, उस के वंश में भी कोई कभी विलायत नहीं गया। पांडे जी ने यह भी बताया कि वे नौ-जवानों को राजनैतिक संघर्ष में कष्ट सहन से न डरने का उदाहरण देने के लिये उपदेश देते फिरते थे कि—भगतसिंह और दत्त से उनका अपराध कबुलवाने के लिये उनके शरीर के पुर्जे-पुर्जे को हथौड़ियों से कुचल दिया गया और उस पर नीला थोथा रखा गया लेकिन उस शहीदों ने उफ़ तक नहीं की। पांडे जी इन दंतकथाओं के लिये मेरा समर्थन चाहते थे। जब मैंने इन्हें निराधार बताया तो पांडेजी को भगत-सिंह के प्रति अपनी अपरिमित श्रद्धा में कुछ न्यूनता सी आती जान पड़ने लगी। वे भगतसिंह को सर्वसाधारण जैसा आदमी मान लेने के लिए तैयार नहीं थे। उसे अलौकिक मानते आए थे और उस धारणा को छोड़ने में उन्हें कुछ अभाव सा अनुभव होता था।

आपबीती लिखने बैठा हूँ तो अपने बारे में भी फ़रारी के तीन वर्षों में प्रचलित हो गई एक दंतकथा का उदाहरण दे दूँ। यह मैंने जेल से छूटने के बाद अपने भाई और माता से सुनी थी। हमारे जिले अर्थात् कांगड़े में प्रचलित था कि मैं उन पहाड़ी इलाकों में भी घूमता फिरता हूँ। कहानी थी कि एक रोज़ एक मोटर लारी वाले को अपना वास्त-विक परिचय देकर मैंने अपने गाँव तक पहुँचा देने के लिए कहा। उस के इन्कार करने पर मैंने पिस्तौल उसकी छाती पर रख दिया। भय-भीत ड्राइवर मेरा हुक्म मानने के लिए तैयार हो गया। मजबूर हो मुझे अपनी लारी में मेरे गाँव तक ले गया। गाँव के सिरे पर पहुँच कर ड्राइवर ने ठहरने का हुक्म सुना। जब उसने घूम कर पीछे देखा तो गाड़ी में एक विकराल रूप मनुष्य बैठा था। जिसके दाँत गाजर जैसे लम्बे-लम्बे थे और सिर से बड़ के वृक्ष जैसी जटायें लटक रही थीं। ड्राइवर बेहोश हो गया। जब उसे होश आया तो उसने देखा, सौ रुपये का एक नोट इनाम के तौर पर उसकी सीट के पास रखा है और सवारी नदारद हो चुकी है। पुलिस के हाथों पकड़े जाकर अपने अदृश्य हो जाने की तो अनेकों घटनाएँ मैंने अपने बारे में सुनीं। यहाँ तक कि फ़रारी की अवस्था में भी तीन-चार बार अख़बारों में भी अपनी ही गिरफ़्तारी का समाचार पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

ऐसी बातें केवल अनजान लोगों में ही फैलती हों सो बात नहीं। कुछ समझदार लोग पुस्तकों तक में ऐसी अनुत्तरदायी बातें लिख देते हैं। अभिप्राय कुछ बुरा न होने पर भी उत्साह की अधिकता से वे ऐसी बातें लिख जाते हैं। उदाहरणतः भगतसिंह पर लिखी एक पुस्तक में मैंने पढ़ा है कि भगतसिंह और भगवतीचरण दोनों लखपति घरानों की संतानें थीं। लखपतियों के प्रति आदर और श्रद्धा का संस्कार पीढ़ियों से हमारे मन में बैठा हुआ है। उसी भावना से प्रेरित हो कर हम जिन लोगों का आदर करना चाहते हैं, उन्हें लखपति भी बना देते हैं। लाहौर षड़यंत्र से सम्बन्ध रखने वाले भगतसिंह और भगवतीचरण दोनों में से ही कोई लखपति घराने का न था। हाँ उनके परिवार औसत खाती-पीती मध्यम श्रेणी से थे। भगवतीचरण की आर्थिक अवस्था जरूर सुरक्षित थी। भगतसिंह का परिवार तो आर्थिक न्यूनता के कारण सदा ही नए-नए उद्योगों और प्रयत्नों में लगा रहता था।

प्रायः यह भी प्रश्न पूछा जाता है कि हम लोगों में नेता कौन था? उस समय हम लोगों में नेता कौन था, यह हम स्वयं नहीं जानते थे। हम से पहले के क्रान्तिकारियों में भक्तिभावना का प्रधान्य था, खास कर बंगाल प्रांत के युवकों में। इसलिये उनमें 'दादा' और 'गुरु' का विशेष स्थान रहता था। हम लोगों में ऐसी बात नहीं थी। कालिज के विद्यार्थी थे इसलिए जो भी प्रोफेसर हमारे विचारों को प्रोत्साहन देने में सहायक हुए हों हमारे पथदर्शक कहलाने के अधिकारी हो सकते हैं। स्वयं हम लोगों में से जिस समय जिसमें उत्साह की जितनी अधिकता थी, उस समय वह उतना ही अग्रणी था। भगवतीचरण उत्साह में किसी से कम न होकर आयु में भी अधिक थे। परन्तु उन्हें एक कुचक्र के कारण खुफिया पुलिस का खिताब मिल गया था। इस अन्याय पूर्ण कांड की बात मैं कुछ आगे चल प्रसंग से ही करूँगा।

इस कुचक्र के कारण भगवतीचरण को हम लोगों के दल में बने रहने के लिये विशेष योग्यता और त्याग का भी परिचय देना पड़ा। आरम्भ में भगतसिंह ही उग्र था। बाद में कुछ समय तक हम लोगों को पंजाब में सुखदेव से बढ़ कर कोई न जँचता था। समय आने पर भगवतीचरण ने जो किया शायद उसकी मिसाल न मिलेगी। मुझे आरम्भ के वे दिन भी याद हैं जब एक बार स्वयं खूब उग्र हो कर बाद

में साहित्यिक प्रयत्न में डूब जाने की इच्छा से, दल के कार्य के प्रति मैं शिथिल होने लगा। भगतसिंह और सुखदेव 'साहित्यिक' कह कर मेरी खिल्ली उड़ाने लगे परन्तु सन् १९३० में जब सुखदेव और भगतसिंह गिरफ्तार हो चुके थे और मैं फ़रार हो कर एक के बाद एक दुस्साहस के काम में हाथ डालता जा रहा था, उस समय भगतसिंह ने जेल से मेरे लिए यह सन्देश भेजा था—"उसे कहो, कुछ दिन बैठकर पढ़े और कहानियाँ लिखे।" मेरे विचार में इस सब का कारण परिस्थितियाँ ही थीं।

आखिर भगतसिंह के हृदय में क्रान्ति की भावना और चेष्टा इतनी उग्र क्यों थी? यहाँ क्रान्ति की भावना और शूरवीरता या साहस को अलग-अलग रख कर बात करना चाहता हूँ। क्यों वह विशेष बेचैन और उग्र जान पड़ता था···? मैं समझता हूँ इसके कारण उसकी परिस्थितियों में ही थे।

भगतसिंह के अधिकांश चित्रों में सिर पर केश और पगड़ी नहीं, हैट दिखाई देता है। नाम में 'सिंह' जुड़ा रहने से पंजाब से बाहर के लोग उसे प्रायः राजपूत समझ लेते हैं। भगतसिंह का परिवार सिख था। अब तो शायद उसके छोटे भाइयों में से किसी के भी सिर पर केश नहीं हैं। सिख सम्प्रदाय में भी हिन्दुओं की तरह ब्राह्मणों और खत्रियों की कई उपजातियां हैं। भगतसिंह का परिवार साधारण किसान था, जिसे 'जाट' कहा जाता है। भगतसिंह और उनके पिता सरदार किशनसिंह के नाम के साथ सर्दार की उपाधि जुड़ी देख कुछ लोग इसे उनके वंश की उपाधि ही समझ बैठते हैं। ऐसी कोई बात नहीं है। पंजाब में प्रत्येक सिख सरदार पुकारा जाता है जैसे कि निरक्षर ब्राह्मण भी पंडित पुकारे जाते हैं। भगतसिंह को कभी किसी ऐतिहासिक, पुरातन महापुरुष से अपने वंश का सम्बन्ध जोड़ते नहीं सुना।

भगतसिंह के परिवार का सम्प्रदाय सिख था परन्तु सिख साम्प्रदायिकता के प्रति इस परिवार में कोई रूढ़ीवादी आस्था नहीं थी। भगतसिंह के पिता से मेरा घनिष्ठ परिचय रहा है। उसके दादा को भी जानता हूँ। सिर पर केश होने के बावजूद यह लोग सिख की अपेक्षा आर्यसमाजी ही थे। भगतसिंह के पिता सरदार किशनसिंह तो सामाजिक प्रश्नों पर साम्प्रदायिकता की उपेक्षा कर उन्हें केवल राजनैतिक दृष्टि से

ही देखते थे। कांग्रेस में वे रहे तो सदा ही परन्तु रहे असन्तुष्ट आलोचक के रूप में वामपक्ष की ओर। सरदार किशनसिंह आर्यसमाज के समाज-सुधार के कार्यक्रमों में काफी दिलचस्पी रखते थे। लाहौर में आर्यसमाज का वार्षिक उत्सव होने पर कभी वहां भी दिखाई दे जाते। यह शायद इसलिये कि पुराने सहयोग के कारण आर्यसमाज के कार्यकर्ताओं से उनके व्यक्तिगत सम्पर्क चले आते थे। किसी साम्प्रदायिक अनुष्ठान, पूजापाठ, हवन-संध्या के प्रति उनमें रुचि नहीं देखी। दादा अर्जुनसिंह जी जरूर धार्मिक अनुष्ठान के प्रति निष्ठा रखते थे परन्तु किस अनुष्ठान के प्रति······?

सन १९२५ के जाड़ों की बात है। सरदार किशनसिंह जी एक इन्शुरेंस कम्पनी की एजेन्सी कर रहे थे। उनका दफ्तर लाहौर में लुहारी दरवाजे के भीतर बाजार में दुमंजिले पर था। जब यह मकान मौजूद था तो भगतसिंह के मित्रों को कोई दूसरा मकान किराये पर लेने की जरूरत क्या थी? उस समय जोरू-जांता किसी के था ही नहीं। सरदार किशनसिंह जी एजेन्सी तो जरूर लिये थे परन्तु उन दिनों उनकी रुचि खेती और दूध विक्रय की ओर ही अधिक थी। वे प्रायः सांडा गांव में ही रहते। एजेन्सी का यह दफ्तर हम लोगों के लिए आराम का डेरा बना हुआ था। मैं उन दिनों लाहौर के नेशनल स्कूल में पढ़ा रहा था। नेशनल कालिज समाप्त होकर केवल नेशनल हाई स्कूल ही रह गया था। भगतसिंह अनिच्छा से थोड़ा बहुत समय घर के कारोबार में लगाता, शेष समय पढ़ता और संगठन के लिये भूमि तैयार करने में लगा रहता। सुखदेव कभी लायलपुर अपने घर चला जाता। वहाँ उसके परिवार ने आटे की एक चक्की लगवा दी थी। लाहौर आता तो भगतसिंह के साथ ही बना रहता। हमारे सहपाठी झंडासिंह और जयदेव गुप्ता भी वहीं थे। झंडासिंह 'गांधी खद्दरभंडार' में काम कर रहा था और उसी में जुटा रहा। जयदेव गुप्ता सरदार जी के बीमे के काम में सहयोग दे रहा था। खाना हम लोग किसी तंदूर पर खा लेते और दफ्तर में बिछी दरी पर बिस्तरा लगाकर रात काट देते। दफ्तर में मेज-कुर्सी मौजूद होने से पढ़ने लिखने की भी सुविधा थी।

एक दिन स्कूल में छुट्टी थी। दूसरे लोग मकान पर मौजूद नहीं थे। मैं अपनी सनक में मेज पर बैठा कोई लेख या कहानी लिख रहा था।

मेज के नीचे टीन की क्या चीज़ पड़ी है, यह खयाल न कर उस पर जूते जमा कर रख लिये थे। सम्भव है अचेतन रूप से यही धारणा रही हो कि रद्दी की टोकरी है। लिखते समय विचारों को ठेलने के लिये मेज के नीचे उस टीन की चीज को जूते से एड़ दिए जा रहा था।

ज़ीने पर भारी कदमों से धम-धम करते हुए एक वृद्ध सिख सज्जन अपने ग्रामीण वेश में ऊपर दफ़्तर में आये। मैंने एक दफे नजर उठा कर उनकी ओर देखा और लिखने में तन्मय रहा। सरदार जी के ऐसे अनेक सम्बन्धी गावों से आते जाते रहते थे। इन सज्जन की दाढ़ी खूब प्रशस्त, बर्फ की तरह श्वेत और चेहरा खूब तेजोमय गुलाबी रंग का था। मैंने उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। आगंतुक भी मुझ से आदर की प्रतीक्षा न कर एक कुर्सी खींच चुपचाप दीवार के पास बैठ गये। मैं मालिक बना बैठा लिखता रहा और मेज के नीचे टीन की चीज पर जूते की ठोकरें भी जमाता रहा।

अचानक वज़नी गालियों से भरी एक करारी डाँट सुन आँख उठा कर देखा कि वयोवृद्ध भव्य मूर्ति की आँखें लाल और चेहरा क्रोध से तमतमा उठा है और वे हाथ में थमी मोटी लाठी को फ़र्श पर ठोक रहे हैं।

"गधा, उल्लू, नास्तिक, बदमाश, सिर तोड़ दूँगा ....।"—उनके हाथ की लाठी मेरे सिर पर पड़ा ही चाहती थी। वृद्ध ने अपने आवेश को कठिनता से वश में कर मेज के नीचे संकेत करते हुए फटकारा—"उल्लू, यही तेरी तमीज है ?"

मेज के नीचे झाँक कर देखा तो अपने जूतों के बीच पाया एक हवन-कुण्ड। सब कुछ समझ में आ गया। उपेक्षा के कारण पहचानने में भूल हुई थी। भगतसिंह से सुन रक्खा था कि दादा जी नित्य हवन करते हैं। जहाँ जाते हैं, पोटली में हवनकुण्ड और हवनसामग्री साथ बाँध ले जाते हैं।

भगतसिंह के दादा सरदार अर्जुनसिंह की साम्प्रदायिक आस्था वैदिक धर्म के आर्यसमाजी ढंग की थी। सिख परिवार में पैदा होकर, भगवान द्वारा सिर पर लाद दिये गये सम्प्रदाय की अवहेलना करके जो व्यक्ति अपनी बुद्धि से किसी दूसरे सम्प्रदाय को तर्क संगत समझ कर

स्वीकार कर लेता है, वह प्रकृति से विचारस्वतंत्रता चाहने वाला और अपने ज्ञान की सीमा तक क्रांतिकारी ही होगा। भगतसिंह की इस पारिवारिक परिस्थिति का प्रभाव उसके मानसिक विकास पर पड़ना अनिवार्य था। सरदार अर्जुनसिंह न केवल व्यक्तिगत रूप से ही अपने धार्मिक विचारों के अनुसार आचरण करते थे बल्कि अपने गाँव में भी बिरादरी और बस्ती के विरोध की परवा न कर आर्यसमाज का जलसा और प्रचार करने के लिये लोहा लेते रहते थे।

भगतसिंह के परिवार का पुराना स्थान पंजाब के होशियारपुर जिले में था। चिनाब नदी की नहर बन जाने पर लायलपुर जिले में नई बस्ती बसने लगी। यह लोग अपने पैत्रिक स्थान में खेती की भूमि का अभाव अनुभव कर लायलपुर के एक गाँव में आ बसे।

भगतसिंह से इस गाँव की एक बड़ी विचित्र घटना सुनी। दादा अर्जुनसिंह जी के गांव की भूमि तम्बाकू की उपज के लिए बहुत अनुकूल है परन्तु गांव में पूरी आबादी सिखों की ही होने के कारण वहाँ तम्बाकू की खेती नहीं होती। सरदार अर्जुनसिंह इस रूढ़िवाद या कुसंस्कार को कब तक सहे जाते ? उन्होंने अपने खेतों में तम्बाकू बो दिया। गाँव भर में पंचायतें हुई, पर वे डटे रहे। फसल तैयार हो जाने पर उसे घर में जमा भी कर लिया। खेतों तक तम्बाकू का रहना एक बात थी पर उसका एक सिख के घर में रख लिया जाना सिख बिरादरी किसी तरह न सह सकती थी। सरदार जी को बिरादरी से अलग कर दिया गया। सिख बिरादरी में हुक्के का तो प्रश्न ही नहीं उठता इसलिये सरदार जी का पानी और उनसे व्यवहार बंद हो गया। सरदार जी अपनी बिरादरी को तर्क द्वारा समझाने की विफल चेष्टा करते रहे।

एक दिन उस तम्बाकू का ग्राहक भी आ पहुँचा। तम्बाकू बिक गई। मुनाफ़ा घर में आ गया। अब सरदारजी ने बिरादरी से कहा—"मैं अपना अपराध स्वीकार करता हूँ कि मैंने अति अपवित्र वस्तु को छुआ और अपने घर में रखा परन्तु अब वह मेरे घर से निकल चुकी है। घृणित से घृणित वस्तु को छू कर भी सफ़ाई कर लेने से मनुष्य पवित्र हो जाता है। गुरुओं की आज्ञा है कि कोई भी व्यक्ति, अछूत या मुसलमान भी

"अमृत छक" * कर सिख धर्म में दीक्षित हो सकता है। आप जिस तरह कहें, मैं अपने मकान और अपने शरीर की शुद्धि करने के लिये तैयार हूँ।" सरदार जी फिर बिरादरी में शामिल हो गये। अपने मित्रों को उन्होंने समझाया—"जहाँ तर्क नहीं चलता वहाँ उदाहरण काम देता है। मेरी बिरादरी के सामने यह उदाहरण तो है कि तम्बाकू जैसे निषिद्ध पदार्थ को छू लेने वाला व्यक्ति भी गुरुओं की आज्ञा द्वारा फिर पवित्र हो सकता है। इतनी सी बात पर मैं आयु भर के लिये बिरादरी से अलग हो जाऊँ, यही क्या तर्कसंगत है?"

उपरोक्त घटना से यह स्पष्ट है कि रूढ़ीवाद से मुक्त पारिवारिक वातावरण में भगतसिंह ने विद्रोह और साहस की दीक्षा स्वाभाविक रूप से पाई। भगतसिंह के परिवार की आर्यसमाज के प्रति अनुरक्ति विचार स्वतंत्रता और क्रान्ति की ओर प्रवृत्ति के कारण ही थी। आज आर्य-समाज के आन्दोलन और संगठन ने मठ और रूढ़ीवाद का जैसा रूप धारण कर लिया है, उससे उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक काल के आर्यसमाजियों की भावना का अनुमान ठीक-ठीक नहीं हो सकता; जैसे कि आज अमरीकन और ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की ईसाईयत को देख कर रोमन साम्राज्य के समय इसाई धर्म द्वारा दिये गये परलोक के विश्वास के सहारे नीरो के दमन और अत्याचार के विरुद्ध लड़ने वाले इसाई दासों और गरीब ईसाई लोगों की मनोभावना का अनुमान नहीं किया जा सकता। उस समय भी आर्यसमाजी आन्दोलन का रूप साम्प्रदायिक जरूर था। वह वैदिक धर्म की पुनः स्थापना की घोषणा करता था परन्तु उसका कार्यक्षेत्र साम्प्रदायिक सीमाओं के भीतर प्रगतिवादी और क्रान्तिकारी भी था। उस समय आर्यसमाज के आन्दोलन की विशेष रूझान सामाजिक समस्याओं की ओर थी। शिक्षा प्रचार, विशेषतः स्त्रियों में शिक्षा प्रचार, विधवा-विवाह, जन्म से वर्ण-व्यवस्था की धारणा को तोड़ने और अछूत समझी जाने वाली जातियों के लिये मनुष्यता के अधिकारों की माँग इस आन्दोलन के प्रमुख भाग थे। इन प्रगतिशील भावनाओं का स्वाभाविक परिणाम विदेशी दासता से असन्तोष भी हुआ। सामाजिक प्रगति

* खड्ग के स्पर्श से पवित्र शर्बत का घूँट पीकर सिख सम्प्रदाय में दीक्षित होने की प्रथा।

के पथ पर कदम रखने से व्यक्ति राजनैतिक दृष्टि से सचेत हुए बिना नहीं रह सकता। यही कारण था कि पंजाब में आर्यसमाज द्वारा सामाजिक सुधार की चेतना फैलने के साथ-साथ ही विदेशी दासता के विरोध की चेतना भी फैलने लगी। उस समय पंजाब के प्रायः सभी राजनैतिक कार्यकर्त्ता लाल हरदयाल, अम्बाप्रसाद सूफी, लाला लाजपतराय और अजीतसिंह आदि 'आर्यसमाजी विचार स्वतंत्रता' द्वारा प्रभावित थे। १९१४-१९१५ लाहौर षडयंत्र के मामले में भाई परमानन्द जी आदि भी आर्यसमाज की प्रगतिशील चेतना की ही उपज थे।

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द ने यद्यपि विदेशी शासन से विद्रोह की पुकार नहीं उठाई, अपने धर्मग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने राजभक्ति का भी उपदेश जरूर दिया है परन्तु वे यह लिखे बिना भी न रह सके कि विदेशी शासन चाहे जितना भी सुखदायक और उन्नतिशील क्यों न हो, अपनी जाति के स्वतंत्र शासन से अच्छा नहीं हो सकता। आर्यसमाज के आन्दोलन से प्रभावित होने वाले लोगों की भावना पर स्वामी जी के इस वाक्य का प्रभाव न पड़ा हो, यह नहीं हो सकता। यह सामाजिक चेतना का अनिवार्य परिणाम था। एक समय ऐसा था कि कोई भी व्यक्ति आर्यसमाजी बन जाने से ही सरकार की दृष्टि में राजनैतिक रूप से सन्दिग्ध हो जाता था। उस समय किसी नवयुवक के आर्यसमाजी बन जाने पर परिवार के लोग ऐसे ही चेहरा लटका लेते थे जैसे कि आजकल घर के लड़के के कम्युनिस्ट बन जाने पर आशंका अनुभव की जाती है।

आर्यसमाज के प्रभाव से देश की अधोगति के प्रति असन्तोष, समाज को पतन से बचाने की इच्छा और विदेशी शासन के प्रति मूक विरोध की भावना दो तरह प्रकट हो रही थी। इसका एक रूप था—भारत की प्राचीन समृद्धि और शक्ति का अत्युक्तिपूर्ण प्रचार। इसका अभिप्राय था अपने देश और समाज को हीन न समझ कर उनकी श्रेष्ठता का विश्वास पैदा करना। अपने समाज की श्रेष्ठता के विश्वास का अर्थ था अपने समाज को गिरी हुई अवस्था से उन्नति करने का साहस देना परन्तु जब अपनी श्रेष्ठता के विश्वास के कारण हमने संसार के दूसरे देशों में हुई प्रगति से आँखें मूंद लीं तो वही हमें उन्नति से रोकने लगा।

दूसरा रूप था—विदेशी सरकार के नियन्त्रण से मुक्त अपनी शिक्षण संस्थायें स्थापित करना। स्वतंत्र देश और समाज की उन्नति की आशा जनता में शिक्षा द्वारा ही जगाई जा सकती थी। परन्तु शनैः-शनैः आर्यसमाज का संगठन अपने उद्देश्यों के बजाय अपने संगठन के अस्तित्व को अधिक महत्व देने लगा। इन संस्थाओं की संख्या, आकार और सम्पत्ति बढ़ने लगी। सम्पत्ति की स्वामी श्रेणी के गुण या दोष आर्यसमाज में आने लगे। आर्यसमाज यह देख रहा था कि विदेशी सरकार सामाजिक और राजनैतिक चेतना से आशंकित होती है। अंग्रेज सरकार भारत की जनता को केवल साम्प्रदायिकता के ही क्षेत्र में स्वतन्त्रता देने के लिये तैयार थी। आर्यसमाज विदेशी शासन के प्रति राजभक्ति का प्रचार करने लगा। आर्यसमाजी नेताओं की दृष्टि में देश और समाज की प्रगति की अपेक्षा अपनी बनी बनाई फलती फूलती संस्थाओं और उनके कोषों की रक्षा का महत्व अधिक हो गया। विदेशी शासन के प्रकोप से अपनी संस्थाओं और संगठन की रक्षा करने के लिये आर्यसमाज अपने कार्यों को साम्प्रदायिकता का गहरा रंग देने लगा। आर्यसमाज का संगठन अपने आपको राजनैतिक भावना और संघर्ष से पवित्र घोषित करने में गर्व अनुभव करने लगा।

अपनी संस्थाओं और कोषों के प्रति मोह ने आर्यसमाज का नैतिक और राजनैतिक पतन किस सीमा तक कर दिया, यह बात आर्य-समाज की प्रमुख संस्था डी० ए० वी० कालिज के संस्थापक महात्मा हँसराज के जीवन की एक घटना से स्पष्ट हो सकता है। महात्मा जी का पुत्र बलराज १९१४ के राजद्रोह के षड़यंत्र की लपेट में आ कर काले पानी की सज़ा पा गया था। उस समय आर्यसमाज के नेता इस भय से व्याकुल हो गये कि अंग्रेज सरकार कहीं पूरे आर्यसमाज और उसकी संस्थाओं को भी संदिग्ध न मान बैठे। कालिज पार्टी को यह भय सदा ही व्याकुल किये रहता था कि अंग्रेज सरकार उनकी शिक्षण संस्थाओं को संदिग्ध मान कर अपनी यूनिवर्सिटी से उनका सम्बन्ध न तोड़ दे? ऐसी अवस्था में इन संस्थाओं के विद्यार्थियों के लिये सरकारी नौकरी की आशा न रहती और जीविका के लिये ही शिक्षा पाने वाली जनता का आकर्षण इन संस्थाओं की ओर घट जाता। इस लिये आर्यसमाज के नेताओं ने राजभक्ति का प्रचार करना और राज-

नैतिक प्रश्नों से अपने अलगाव का एलान करना आरम्भ कर दिया। स्वयं महात्मा हँसराज ने भी अपने पुत्र से किसी प्रकार का सम्बन्ध और लगाव न होने की घोषणा कर दी। आर्यसमाजियों ने अपने नेता की इस कायरता को आर्यसमाज के लिये महान त्याग कह कर कायरता को बलिदान का रूप दे दिया। महात्मा हंसराज ने अपने पुत्र को स्वामी दयानन्द के राजनैतिक आदर्श पर चलने के कारण घृणित अपराधी की भाँति त्याग दिया। एक समय तो राजकोप की आशंका से कांप कर सरकार के कृपाकांक्षी आर्यसमाजी सज्जन यह भी प्रस्ताव करने लगे थे कि सत्यार्थ प्रकाश में से अपनी जाति के स्वतंत्र राज्य की प्रशंसा करने वाले स्वामी जी के शब्द ही निकाल दिये जायें।

आर्यसमाज संगठनात्मक रूप से दो पार्टियों में बंटा रहा है; एक कालिज पार्टी और दूसरी गुरुकुल पार्टी। कालिज पार्टी में सरकारी नौकरों, वकीलों और सरकारी विश्वविद्यालय से सम्बन्धित शिक्षण संस्थाओं के लोगों की अधिकता रही है। यह पार्टी राजभक्ति की दृष्टि से विदेशी सरकार के अधिक समीप थी। गुरुकुल पार्टी का मुख्य आधार प्राचीन शिक्षा प्रणाली और प्राचीन संस्कृति का पुनरुत्थान रहा है। गुरुकुल पार्टी की शिक्षण संस्थाओं का सरकारी यूनिवर्सिटियों से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। इनके सामने सरकार द्वारा अस्वीकृत कर दिये जाने का भय नहीं था इसलिये इस पार्टी से सम्बन्धित लोगों में विदेशी सरकार के प्रति घृणा का भाव भी अपेक्षाकृत उग्र रहा है। परन्तु यह संस्थायें भी राजद्रोही समझ ली जाने के भय से सर्वथा मुक्त न थीं और समय-समय पर उच्च पदस्थ अंग्रेज हाकिमों को अपनी संस्थाओं में निमंत्रण दे दे कर यह विश्वास दिलाने की चेष्टा करती रहती थीं कि वह केवल धार्मिक संस्था मात्र हैं, राजनीति से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। विदेशी शासन के प्रति इनके मन में घृणा थी परन्तु उस घृणा को प्रकट करने का साहस इन में भी न था।

बचपन में मैं स्वयं लगभग सात वर्ष गुरुकुल में रहा हूँ। मुझे याद है कि गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के संस्थापक महात्मा मुन्शीराम जी, जो बाद में सन्यास ग्रहण करके स्वामी श्रद्धानन्द कहलाने लगे थे, प्रान्तीय गवर्नरों और वाइसरायों को गुरुकुल में आमन्त्रित करके उनका प्रेमपूर्वक सत्कार करने का पाखंड करते रहते थे। जब दिल्ली में लार्ड

हार्डिंग पर बम फेंका गया और लाट साहब बाल-बाल बच गये तो गुरुकुल में ईश्वर की इस कृपा पर धन्यवाद देने के लिये एक सभा की गई। लार्ड और लेडी हार्डिंग के चित्र विद्यार्थियों को बाँटे गये। उनके दीर्घ जीवन के लिये ईश्वर से प्रार्थना की गई। पाखंड शब्द का उपयोग वास्तव में मैंने इसलिये किया है कि गुरुकुल कांगड़ी के वातावरण में अंग्रेज और विदेशी शासन के प्रति उत्कट घृणा थी। विदेशी शासन के प्रति वहाँ परवशता का भाव था, प्रेम का नहीं। इसका कुछ वर्णन मैं अपने राजनैतिक झुकाव के प्रसंग में करूँगा।

गुरुकुल पार्टी में राजनैतिक चेतना अधिक होने का प्रमाण कालिज पार्टी के प्रमुख नेता महात्मा हंसराज और गुरुकुल पार्टी के प्रमुख नेता स्वामी श्रद्धानन्द के व्यवहार से ही स्पष्ट हो जाता है। १६१६ में जब जालियांवाला बाग की घटना के कारण विदेशी शासन और देश की जनता के आन्दोलन की टक्कर ने उग्र रूप ले लिया तो स्वामी श्रद्धानन्द राजभक्ति की अपनी पुरानी घोषणाओं के बावजूद राष्ट्रीय आन्दोलन के अगले मोर्चे पर आये बिना न रह सके और उनकी गणना कांग्रेस के उग्र राजनैतिक नेताओं में होने लगी।

आर्यसमाजी भावना की यह चर्चा विषयान्तर से नहीं, बल्कि प्रसंग-वश ही करनी पड़ी। भगतसिंह का पूरा परिवार ही आर्यसमाज की आरम्भिक प्रगतिवादी भावना से प्रभावित था। आर्यसमाज पत्थर की मूर्ति में ईश्वर की भावना का निराकरण करने के लिये तर्क की प्रवृत्ति से विचारों की प्रगति पैदा करता है परन्तु जब तर्क की यह प्रवृत्ति स्वयं ईश्वर के ही अस्तित्व के विषय में तर्क करने लगती है, तब आर्यसमाज तर्क और प्रगति के मार्ग से भयभीत हो जाता है और उसे नास्तिकता का अपराध पुकारने लगता है। आर्यसमाज के आन्दोलन के सार्वजनिक जीवन में भी यही लक्षण रहा है। अर्थात् सामाजिक कुसंस्कारों और रूढ़ियों से मुक्ति प्राप्त कर सामाजिक प्रगति और उत्थान की चेष्ठा करना परन्तु जब सामाजिक प्रगति स्वाभाविक रूप से राजनैतिक चेतना और प्रगति का रूप लेने लगता है तो आर्यसमाज भयभीत और व्याकुल हो उठता है। भगतसिंह के परिवार ने आर्यसमाज के प्रभाव से सामाजिक चेतना और प्रगति की भावना को अपनाया परन्तु जब यह प्रगति राजनीति की सीमा में कदम रखने लगी तो वह रुक नहीं गया बल्कि

देश की सामाजिक समस्याओं के हल का उन्हें एक ही उपाय दिखाई देने लगा—राजनैतिक चेतना द्वारा राजनैतिक शक्ति, आत्म निर्णय का अवसर प्राप्त करना। उस समय की परिस्थितियों और सुविधाओं के अनुसार यह परिवार उस मार्ग पर आगे बढ़ता गया और आर्यसमाज से निराश और विरक्त हो गया।

सरदार अजीतसिंह ने मुख्यतः और सरदार किशनसिंह ने भी विदेशी शासन विरोधी राजनैतिक आन्दोलन में भाग लिया। उस समय अभी कृष्ण मन्दिर (जेल) में तपस्या करके आत्मिक शक्ति द्वारा स्वराज्य प्राप्त कर लेने के गांधीवादी सिद्धान्त का विकास नहीं हो पाया था। इसलिये सरदार अजीतसिंह पुलिस के हाथ पड़ कर जेल में सड़ते रहने के बजाय फ़रार होकर अपना काम करते रहे। गिरफ्तारी से बचने के लिये अम्बाप्रसाद सूफ़ी के साथ वे भारत के अनेक भागों और नेपाल की तराई आदि में फिरते रहे और फिर इस देश में कुछ कर पाने का अवसर न देख विदेश चले गये। विदेश में भी वे लाला हरदयाल, राजा महेन्द्रप्रताप और बरकतुल्ला आदि दूसरे प्रमुख क्रान्तिकारियों के सहयोग से जैसे तैसे भारत में राजनैतिक क्रान्ति कर डालने की चेष्टा करते ही रहे। कुछ लोगों का विचार है कि दूसरे महायुद्ध के समय रोम से रेडियो पर जो बृटिश-विरोधी प्रचार हिन्दुस्तानी में होता था और जिस की भाषा में बृटिश साम्राज्यशाही और भारतीय बृटिश सरकार के प्रति अदम्य घृणा उबली पड़ती थी वह सरदार अजीतसिंह के बृटिश से आमरण टक्कर लेते रहने का ही परिणाम था।

सरदार अजीतसिंह के लिये १९४८ से पहले भारत लौट सकना सम्भव न हुआ। जिस समय वे लौटे, अत्यंत वृद्ध और निरंतर संघर्ष से जीर्ण हो चुके थे। शीघ्र ही उनका देहान्त हो गया। सरदार किशनसिंह भी कुछ हद तक अपने भाई का साथ देते रहे थे। अनेक दुस्साहसपूर्ण कहानियाँ हमने उनके मुख से सुनी हैं। परन्तु जब भगतसिंह उसी मार्ग पर चलने लगा, सरदार जी को यह बातें मूर्खतापूर्ण जान पड़ने लगीं और वे इन बातों से क्षुब्ध होने लगे। स० किशनसिंह यह तो कभी न कह सके कि उनका पुत्र देश की स्वतंत्रता के लिये यत्न न करे परन्तु उनका आग्रह था कि अपने घरबार की चिन्ता किये बिना केवल उसी में कूद पड़ना मूर्खतापूर्ण और अव्यवहारिक है। भगतसिंह

का विश्वास था कि आदमी दो नावों पर पांव रख कर नहीं चल सकता। पिता-पुत्र के इस मतभेद से काफ़ी झगड़े भी हुये। एक बार मुझे भी उसका शिकार बनना पड़ा।

पिता के स्वतंत्र विचार होने के कारण बचपन में भगतसिंह के सिर पर लम्बे केश नहीं थे। बचपन में भगतसिंह की शिक्षा भी साम्प्रदायिक सिख स्कूल में नहीं, डी० ए० वी० (दयानन्द ऐंग्लो वैदिक) स्कूल में ही हुई थी। सरदार किशनसिंह डी० ए० वी० स्कूल और कालिज को राष्ट्रीय संस्था मान कर उसके सहायक रहे हैं। वहीं उन्होंने भगतसिंह को भरती करा दिया था। मैं और भगतसिंह दोनों ही कुछ समय तक डी० ए० वी० स्कूल के विद्यार्थी थे। उस समय हमारा सम्पर्क नहीं था। एक तो लाहौर के डी० ए० वी० स्कूल में एक-एक श्रेणी में चार-चार, पाँच-पाँच तक विभाग होते थे और प्रत्येक विभाग में पचास-साठ विद्यार्थी रहते थे। तिस पर भगतसिंह मुझ से एक श्रेणी नीचे था। उसकी आयु भी मुझ से शायद दो वर्ष कम थी। यह सन् १९१९ की बात है। इसके बाद मैं लाहौर से फ़िरोजपुर चला गया क्योंकि मेरी मां जो लाहौर में एक आर्य कन्या पाठशाला के छात्रावास की सुपरिन्टेन्डेन्ट थीं, फ़िरोजपुर की एक आर्य कन्या पाठशाला की मुख्याध्यापिका होकर फ़िरोजपुर चली गई थीं।

सन् १९१९ में रौलेट बिल के विरुद्ध सार्वजनिक प्रदर्शनों से उग्र राजनैतिक आन्दोलन आरम्भ हो चुका था। इस आन्दोलन का आरम्भ महात्मा गांधी के नेतृत्व में सत्याग्रह लीग द्वारा हुआ था। उन दिनों हम लोग डी० ए० वी० स्कूल के विद्यार्थी थे। हम लोगों ने यह पहला राजनैतिक आन्दोलन देखा। परन्तु वैसा सार्वजनिक उत्साह फिर कभी दिखाई नहीं दिया। रौलेट कानून के विरोध में जुलूस निकाला गया था। यह जुलूस दो-तीन मील रहा होगा और ठसाठस। मातम का प्रदर्शन करने के लिये सभी लोग नंगे सिर थे और काले झण्डों के कारण काली आँधी सी आ गई मालूम होती थी। जनता उस समय तक शान्तिमय सत्याग्रह के दाँवपेंच नहीं जानती थी। राजनीति में इन शब्दों का प्रयोग भी नहीं हुआ था। जनता सीधे-साधे ढंग से विदेशी शासक के विरुद्ध असन्तोष और विरोध प्रकट कर रही थी।

जुलूस के साथ ही हड़ताल भी हुई। हड़ताल सात दिन तक जारी

रही। गांधी जी की मृत्यु के शोक में स्वयम हड़ताल हो गई थी। कांग्रेस सरकार ने इस हड़ताल को तीन दिन जारी रखने की घोषणा की थी परन्तु लोग दूसरे ही दिन दुपहर बाद ऊबने लगे और तीसरे दिन सरकारी आतंक के बावजूद संध्या तक आवश्यक वस्तुओं की छोटी-मोटी दूकानें प्रायः खुल ही गई थीं। सरदार पटेल की मृत्यु पर भी तीन दिन की हड़ताल सरकारी हुक्म से कराई गई। पुलिस ने धमका कर दुकानों को बन्द करवाया। कांग्रेस भी अपनी पूरी शक्ति शोक का वातावरण बनाने में लगा रही थी। जनता उसे बेबसी में ही सह रही थी परन्तु लाहौर की वह हड़ताल सात दिन तक अपनी इच्छा से या जनमत के दबाव से मुकम्मिल हड़ताल थी। पुलिस की गारदें जगह-जगह जबर्दस्ती दुकानें खुलवा देतीं परन्तु पुलिस के हटते ही जनता की सामूहिक भावना से दुकानें फिर बन्द हो जातीं। लाहौर में सात दिन तक पूरी हड़ताल निभा देना आसान बात न थी। इसके कई कारण हैं। प्रथम तो वहाँ हजारों तन्दूर और तवियाँ* हैं। हजारों ही व्यक्ति इन दुकानों पर पेट भरते हैं। हड़ताल के उन दिनों में ये तवियाँ और तन्दूर बन्द थे परन्तु बाजारों और गलियों में जगह-जगह बड़े-बड़े अस्थायी चूल्हे बना कर बड़ी बड़ी देगों में दाल और बड़े-बड़े तवों पर रोटियाँ सेंकी जा रही थीं। रोटियां सेंकने का काम प्रायः अपने-अपने मुहल्लों की मध्यम श्रेणी की स्त्रियाँ स्वेच्छा से कर रही थीं। जो चाहता मुफ्त में दाल रोटी खा सकता था। लेकिन न कोई बिक्री हो रही थी और न कोई मजदूरी ही। घर गृहस्थी के लोगों की पारिवारिक आवश्यकताएँ कैसे पूरी हो रही थीं, इस बात की ओर उस समय मेरा ध्यान नहीं गया। जो भी उपाय किये गये हों, दुकानें जरूर बन्द थीं। विदेशी शासन द्वारा दमन के विरोध में हुई हड़ताल को सफल बनाना एक सामाजिक कर्तव्य बन गया था। जगह जगह भीड़ की टुकड़ियाँ रौलेट-कानून का सियापा + करती फिर रही थीं—"हाय-हाय रौलेट बिल! हाय-हाय रौलेट बिल"! जगह-जगह सम्राट जार्ज की अर्थियां जलाई जा रही थीं। पुलिस इन्हें तितर-बितर करने के लिये लाठी चार्ज करती। भीड़ भाग कर पुलिस पर ईंट-पत्थर की वर्षा कर सामना करती। बीसियों जगह गोली चली परन्तु हड़ताल

* बड़े बड़े तवों पर रोटी सेंक कर खिलाने वाली दुकानें।

+ मृत्यु के समय छाती पीट कर मरे हुए व्यक्ति के नाम से विलाप करना।

जारी रही। शहर में फौजी कानून जारी कर दिया गया। सरकार को भारतीय पुलिस और फौज की राजभक्ति में सन्देह होने लगा। इसलिये महत्वपूर्ण स्थानों पर प्रायः गोरी फौज तैनात कर दी गई। धड़ाधड़ गिरफ्तारियाँ हो रही थीं। सरकारी आज्ञा भंग करने पर बाजारों में बेंत लगाये जा रहे थे। हड़ताल खोल देने और जुलूस आदि न निकालने के जो एलान सरकार की ओर से स्थान-स्थानपर चिपकाये जाते, वह तुरन्त फट जाते। यह ऐलान जिन दुकानों और मकानों पर लगाये जाते उनके मालिकों को ही इनकी रक्षा के लिये जिम्मेवार ठहरा दिया जाता। इनके फटने पर उन्हें राजद्रोही समझ कर दंड दिया जाता। स्कूलों और कालिजों में संस्थाओं के अधिकारियों द्वारा जबर्दस्ती दंड दिलाया जा रहा था।

मैं उस समय डी० ए० वी० स्कूल के बोर्डिंग में था। बोर्डिंग के दरवाजे बन्द कर दिये गये कि विद्यार्थी बाहर निकल कर भीड़ का साथ न दे सकें। रौलेट-कानून विरोधी हड़ताल उसी समय टूटी जब गांधीजी ने अपनी भूल पर पश्चाताप करके हड़ताल को तुरन्त तोड़ देने की आज्ञा दे दी। यह हड़ताल केवल लाहौर में ही नहीं अमृतसर, गुजरांवाला आदि कई शहरों में इसी रूप से हुई। इसी अवसर पर जलियांवाला का हत्याकाण्ड हुआ और गुजरांवाला में तो जनता को बेकाबू देख सरकार ने हवाई जहाज से बम फेंक कर स्थिति को वश में किया। सत्याग्रह लीग की पुकार पर जनता ने रौलेट कानून के विरुद्ध प्रदर्शन इस रूप और परिमाण में किया कि न केवल ब्रिटिश सरकार ही बदहवास हो गई बल्कि स्वयं गांधीजी और कांग्रेस के नेताओं के कलेजे भी दहल गये। सरकार की परेशानी और बदहवासी का अनुमान सर वेलेंटाइन किरौल की पुस्तक "इंडिया"—१९२८ पृष्ट २०७ से लग सकता है। गांधीजी को इस आन्दोलन से जो आशंका अनुभव हुई यह उनके प्रायश्चित्त से स्पष्ट है। उन्हें शायद १९१७—अक्टूबर में हुई रूसी क्रान्ति की ही आशंका रौलट बिल विरोधी प्रदर्शनों में दिखाई देने लगी। इसके बाद कोई भी आन्दोलन चलाने से पहले गांधीजी सदा शांतिपूर्ण तरीके (Nonviolence) को आन्दोलन से अधिक महत्वपूर्ण करार दे देते रहे। इस समय मैं आठवीं कक्षा में पढ़ता था और मुझे लाहौर छोड़ कर फिरोजपुर छावनी चला आना पड़ा।

रौलेट-कानून के विरुद्ध प्रदर्शनों और हड़तालों को रोक कर गांधी जी और कांग्रेस ने सरकार द्वारा किये गये दमन की जाँच की जाने की मांग प्रार्थना सरकार से आरम्भ की। कांग्रेस की यह मांग सरकार द्वारा स्वीकार न की जाने पर असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ। पंजाब केसरी लाला लाजपतराय कई वर्ष के विदेशवास के बाद उसी समय भारत लौटे थे। देश में राजनैतिक उत्साह देख उन्हों ने पंजाब में असहयोग आन्दोलन का नेतृत्व आरम्भ किया। पंजाब में इस आन्दोलन ने खूब उग्र रूप ले लिया। कांग्रेस ने सरकारी खिताबों, नौकरियों, अदालतों और स्कूल-कालिजों से असहयोग की पुकार दी। खिताब, नौकरियाँ और अदालतें तो कम ही लोगों ने छोड़ी होंगी परन्तु विद्यार्थियों ने स्कूल कालिज बड़ी संख्या में छोड़ दिये। इन्हीं असहयोगी विद्यार्थियों को योग्य राष्ट्रीय कार्यकर्ता बनाने के लिये लाला जी और पंजाब के कांग्रेसी नेताओं ने लाहौर में पंजाब नेशनल कालिज की स्थापना की थी।

भगतसिंह असहयोगी विद्यार्थियों में से था। राष्ट्र की पुकार पर उसने शायद नवीं कक्षा से स्कूल छोड़ दिया था और वह कांग्रेस के स्वयं सेवकों में भर्ती होकर राष्ट्रीय काम करने लगा। सन १९२२ में राष्ट्रीय आन्दोलन फिर दब गया। गांधी जी ने सत्याग्रह स्थगित कर दिया। जो विद्यार्थी राष्ट्र की पुकार पर स्कूल कालिज छोड़ आये थे, ठगे गये से अनुभव करने लगे। उनकी परिस्थिति कठिन हो गई। आन्दोलन स्थगित होने का प्रभाव केवल विद्यार्थियों पर ही नहीं बल्कि आन्दोलन के लिये उत्साहित हो जाने वाली सम्पूर्ण जनता पर विचित्र ढंग से पड़ा। जनता गांधीजी की १९२१-३१ दिसम्बर तक स्वराज्य प्राप्त कर लेने की प्रतिज्ञा पर विश्वास कर बहुत उत्साहित और मरने-मारने के लिये तैयार हो चुकी थी। २२ फरवरी १९२२ की घोषणा से आन्दोलन स्वराज्य प्राप्त किये बिना ही पूर्णतः स्थगित हो गया। जनता में जाग उठी संघर्ष की भावना को ऐसा धक्का लगा जैसे तेज चाल से चलती रेलगाड़ी को सहसा रोक देने से रेलगाड़ी के डिब्बे आपस में ही टकराने लगते हैं। जनता में जाग उठी उग्रता और संघर्ष की भावना कई लाभदायक और हानिकारक रूपों में परिणित हो गई। साम्प्रदायिक दंगे भी हुये, परन्तु इसके साथ ही सिक्खों में गुरुद्वारा-आन्दोलन भी वेग से चल पड़ा।

यों तो गुरुद्वारा आन्दोलन साम्प्रदायिक क्षेत्र में ही सीमित था और इसका उद्देश्य गुरुद्वारों (सिख मंदिरों) से अनाचार दूर करना था परन्तु इसकी भावना उग्र सुधारवादी और अपने सीमित क्षेत्र में क्रान्तिकारी थी। यह गुरुद्वारे कुछ महन्तों की पैतृक और वैयक्तिक सम्पत्ति के रूप में चले आ रहे थे। गुरुद्वारों में भेंट के रूप में आने वाली लाखों की सम्पत्ति और गुरुद्वारों से जुड़ी हुई जागीरों की आय इन महन्तों की व्यक्तिगत या पारिवारिक आमदनी समझी जाती थी। इन महन्तों के स्वामित्व में यह गुरुद्वारे प्रायः तमाशबीनी और व्यभिचार के अड्डे बन चुके थे। गुरु द्वारा आन्दोलन का उद्देश्य इन मन्दिरों को महन्तों की पैतृक और व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहने देकर संगत (सम्प्रदाय) की सामाजिक सम्पत्ति बना देना और इन गुरुद्वारों तथा इनकी आमदनी-खर्च का प्रबंध निर्वाचित पंचायतों द्वारा करना था।

सरकार मन्दिरों की सम्पत्ति के समाजीकरण करने के विरुद्ध सम्पत्ति पर महन्तों के पैत्रिक स्वामित्व के अधिकार की रक्षा करने के पक्ष में थी। सुधार चाहने वाली सिख जनता ने यह आन्दोलन सत्यग्रह के रूप में चलाया। सिखों के निःशस्त्र जत्थे गुरुओं की वाणी का पाठ करते हुए इन मन्दिरों और मठों पर सामाजिक अधिकार कायम करने के लिये जाते थे। महन्तों के पालतू गुंडे और पुलिस की बड़ी-बड़ी गारदें इन निःशस्त्र स्वयंसेवकों पर लाठियों की अंधाधुंद बौछार करते थे। कई जगह गोली चली। प्रायः मंदिरों की जमीन खून से रंग जाती थी। मूर्छित होकर गिर पड़े स्वयंसेवक जेलों में बंद कर दिए जाते थे। गुरुद्वारा आन्दोलन के संघर्ष का अनुमान 'ननकाना साहब गुरुद्वारे' के उदाहरण से ही किया जा सकता है। इस मन्दिर पर अधिकार करने के लिये लगभग दो सौ स्वयंसेवकों की जानें गईं। सिखों के इस गुरु द्वारा सुधार आन्दोलन के सामने सरकार को परास्त हो जाना पड़ा क्योंकि सिखों के सौभाग्य से इस आन्दोलन को स्थगित कर देने वाला कोई व्यक्ति न था। गुरुद्वारा आन्दोलन से जमींन्दारी उन्मूलन की समस्या का बहुत कुछ साम्य है। कांग्रेस सदा से स्वीकार करती आई है कि जमीन्दारी प्रथा किसानों की दुरावस्था का कारण है। जमीन्दारी के उन्मूलन के लिये किसानों की बहुत पुरानी मांग चली आती है। कांग्रेस और कांग्रेसी सरकारें इस मांग को पूरा करने की प्रतिज्ञा किये हुये थीं। कांग्रेसी सरकार की स्था-

पना के बाद भी यह प्रतिज्ञा तीन वर्ष तक स्थगित रही। जमीन्दारों को हर्जाना देने के लिये किसानों से करोड़ों रुपया भी वसूल किया जा चुका है आखिर जमीन्दारी उन्मूलन की प्रतिज्ञा के पूरे होने का दिन आया तो स्वतंत्र भारत की अदालतों ने भारत के नये विधान के अनुसार जमीन्दारों की सम्पत्ति पर से उनका स्वामित्व हटाया जाना अवैधानिक बता दिया। गुरुद्वारों के महन्तों की निजी सम्पति के सामाजिक-करण की मांग का ठीक वही अर्थ था जो कि किसानों की मांग से जमीन्दारों की भूमि के पुनः वितरण का है। ब्रिटिश गवर्मेण्ट के राज में जनता की ऐसी मांग पूरी हो सकती थी परन्तु कांग्रेस के राज में वह अवैधानिक हो गई। ऐसी अवस्था में इस राज को कितना समाज हितकारी और जनतंत्रात्मक समझा जा सकता है ?

सन १९२२ में राष्ट्रीय आन्दोलन के स्थगित हो जाने पर भगतसिंह गुरु द्वारा आन्दोलन में भाग लेने लगा। इस आन्दोलन में भाग लेने वाले क्रान्तिकारियों के प्रति श्रद्धा के कारण उसने भी सिर पर केश रखा लिये। वह अकाली बन कर काली पगड़ी पहनने और कृपाण भी रखने लगा। इन दिनों और भी अनेक युवक सिख और अकाली सज गये। काली पगड़ी युवकों में फैशन ही बन गई। कृपाण के प्रति भगतसिंह की श्रद्धा इसलिये थी कि कृपाण के आकार पर सरकार द्वारा लगाये हुए प्रतिबन्ध का विरोध करने के लिये सिखों ने कृपाण-आन्दोलन चलाया था और सरदार लोग तीन फीट और चार फीट लम्बी तलवारें हाथ में लिये कानून भंग करते थे। जब भगतसिंह नेशनल कालिज में पहुँचा वह नियम से काली पगड़ी ही बाँधता था परन्तु यह गुरुद्वारा आन्दोलन समाप्त हो चुका था। अब काली पगड़ी साम्प्रदायिकता का ही चिन्ह बन गई थी। भगतसिंह का और उसकी काली पगड़ी बाँधने का नियम धीरे-धीरे शिथिल हो गया। गुरुद्वारा आन्दोलन में सिखों को सफलता हो जाने पर उन में साम्प्रदयिक संकीर्णता का अहंकार और रूढ़ीवाद जोर पकड़ने लगा था युवकों और भगतसिंह को उससे विरक्ति होने लगी। उन दिनों वह शायद ही कभी गुरुद्वारा गया हो।

× × ×

यशपाल

मैं नेशनल कालिज में स्वयं कैसी मानसिक स्थिति में पहुँचा और

किन परिस्थितियों में भगतसिंह, सुखदेव, भगवतीचरण तथा दूसरे साथियों से मेरा परिचय हुआ वह भी याद कर लेना आवश्यक है। अपनी सशस्त्र क्रान्ति के प्रयत्नों की ओर स्वयं मेरी प्रवृत्ति कैसे हुई; यह बात मेरे लिये जितनी स्पष्ट है, उतनी ही विस्तृत भी। मुझे इसमें अनेक कारणों और परिस्थितियों का प्रभाव दिखाई देता है, जिनमें सामाजिक भावना अपनी पारिवारिक और आर्थिक स्थिति और अपने चारों ओर के वातावरण से ली हुई प्रेरणा सभी कुछ मिले जुले हैं।

किसी वस्तु के विरोध और उस वस्तु के लिये घृणा और द्रोह को पृथक-पृथक कर देना मैं सम्भव नहीं समझता। विदेशी शासन से मुक्ति की इच्छा अपने मन में अनुभव होने की स्मृतियों को जब मैं कुरेदता हूँ तो वह मुझे सदा अंग्रेजों के प्रति अपनी घृणा, विरोध, और द्वेष के रूप में याद आती है। अंग्रेजों के प्रति घृणा और द्वेष का कोई निरा व्यक्तिगत कारण तो हो ही नहीं सकता था। उनकी शक्ति और प्रभुता को देख कर उन जैसा बन सकने की इच्छा होती थी। अपने लिये वैसा अवसर न होने और अंग्रेजों का आतंक और प्रभुता अपने ऊपर अनुभव करने से यह घृणा और द्वेष जातीय रूप में अनुभव होते थे। अंग्रेजों के प्रति बचपन से ही अपने मन में अनुभव होने वाली घृणा और द्वेष को मैं अपनी व्यक्तिगत या हार्दिक त्रुटि मानने के लिये तैयार नहीं हूं। इसका कारण मेरे ख़याल में दैन्य को स्वेच्छा से स्वीकार न करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति ही थी। मेरा विचार है जोर और जब्र के प्रति असन्तोष, घृणा और द्वेष अनुभव किये बिना इसका विरोध करने की इच्छा भी नहीं हो सकती। यह बात केवल मैंने ही अनुभव की हो सो बात नहीं। मुझे अपनी इस भावना का समर्थन वयोवृद्ध क्रान्तिकारी डाक्टर भूपेन्द्रनाथ दत्त के संस्मरणों में भी मिलता है।

बंगाल में सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टा के जन्म की कहानी मैं प्रकाशसिंह जी 'विनोद' को सुनाते हुये डाक्टर दत्त ने करीब पचास वर्ष पहले की बात उन्हें सुनायी थी। उनके यौवन के आरम्भिक काल में अंग्रेजों से घृणा करने वाले बंगाली युवक उस समय कलकत्ते में घोड़ों द्वारा खींची जाने वाली ट्राम गाड़ी पर कूद कर चढ़ जाते और ट्राम में सवार गोरों को पीट-पाट कर भाग जाते थे। कलकत्ता और बंगाल में अंग्रेजों

के प्रति इस घृणा ने ही पनप कर राष्ट्रीय आत्मसम्मान की भावना का रूप ले लिया और यही भावना शनैः-शनैः सशस्त्र क्रान्ति द्वारा राष्ट्रीय मुक्ति के प्रयत्नों में परिणित हो गई।

भारत में आने और रहने वाले अंग्रेजों के व्यवहार में अपनी वैयक्तिक और सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाये रखने और इस देश के वासियों को नीचा समझने का भाव रहता था। प्रत्येक अंग्रेज अपने आप को इस देश पर अपने शासन का प्रतिनिधि समझता था। उनका यह अहंकार इस देश के प्रति घृणा के रूप में उनकी मुद्रा और व्यवहार से भारतीयों के अपमान के रूप में बरसता रहता था। यह बात सम्भवतः आज के नौजवान पाठकों को कुछ विचित्र सी लगेगी।

पहले महायुद्ध के समय अंग्रेज यद्यपि अमेरिका की सहायता से युद्ध जीत गये परन्तु उस युद्ध के समय देश भर में यह समाचार फैलते रहे कि योरूप में जर्मन अंग्रेजों को बुरी तरह पीट रहे हैं। अंग्रेजी सरकार को इस देश की जनता से युद्ध के लिये जन, धन की सहायता की अपीलें भी करनी पड़ीं और अपने सिर पर आये संकट को भी स्वीकार करना पड़ा। इन बातों का प्रभाव देश की जनता पर कैसे न पड़ता? अंग्रेजों से परास्त होकर, कुचले जाकर और उनके दास बन कर इस देश की जनता के मस्तिष्क पर अंग्रेजों के अजेय होने और उनकी अलौकिक श्रेष्ठता की जो छाप पड़ गई थी वह कुछ फीकी पड़ने लगी। ऊपर जिस रौलेट कानून विरोधी आन्दोलन की चर्चा मैंने संक्षेप में की है, उस आन्दोलन से और उसके बाद विदेशी शासन से अधिकारों की माँग के अनेक आन्दोलनों से अंग्रेजों के अभिमान में कमी आने लगी थी और भारत में आने और रहने वाले अंग्रेजों ने कुछ-कुछ शिष्टता और इन्सानियत का व्यवहार सीख लिया था। दूसरे महायुद्ध के बाद तो उनके व्यवहार में बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया।

पचास वर्ष पूर्व अंग्रेजों का व्यवहार कुछ और ही था। उस समय सड़क पर चलने वाला प्रत्येक अंग्रेज, साधारण व्यापारी, रेलवे का नौकर या सेना का मामूली सन्तरी गोरा भी सभी हिन्दुस्तानियों से सलाम की आशा रखता था। मसूरी, शिमला और नैनीताल में अंग्रेजों के प्रधान अड्डे थे। इन स्थानों के वयोवृद्ध लोगों से आप आज भी अंग्रेजों के

तत्कालीन व्यवहार की विचित्र कहानियाँ सुन सकते हैं। उन दिनों बरसात हो या धूप, कोई भी हिन्दुस्तानी किसी अंग्रेज के सामने छाता लगा कर चलने का साहस नहीं कर सकता था। नैनीताल में झील के किनारे माल रोड, जिसका नया नामकरण 'अब गांधी मार्ग' कर दिया गया है, जहाँ आजकल प्रत्येक कांग्रेसी मंत्री नोकीली गांधी टोपी लगाये मोटर पर फिसलता हुआ पैदल चलने वाले सर्वसाधारण लोगों को परेशान करता दिखाई देता है, एक समय उस सड़क पर केवल अंग्रेज ही चल सकते थे। हिन्दुस्तानियों को इस सड़क के नीचे कच्ची सड़क पर ही चलना पड़ता था। प्रसंग-वश यह भी कह दूँ कि अंग्रेज साम्राज्यशाही के राज में इस सड़क पर केवल गवर्नर ही कभी-कभी मोटर पर आते जाते थे। साम्राज्यशाही के मंत्री या शासन सभा के सदस्य जनता की तरह पैदल ही चलते थे परन्तु अब 'जनता के सेवक' सभी मंत्री इस सड़क पर कारें दौड़ाते हैं। पैदल जनता को इससे जो असुविधा और अपमान अनुभव होता है, वह रामराज्य का एक वरदान है।

मैंने भी अपनी होश में अंग्रेजों का वह व्यवहार नहीं देखा क्योंकि मेरे होश में आने से पूर्व ही अंग्रेजों की प्रभुता को अस्वीकार करने वाले क्रान्तिकारी आन्दोलनों की चिंगारियाँ फूटने लगी थीं और अंग्रेजों की निरंकुशता को चुनौती देने वाले कई आन्दोलन चल चुके थे। परन्तु मैंने अपने बचपन में बहुत कुछ देखा है। मैंने अंग्रेजों को सड़क पर सर्वसाधारण जनता से सलामी लेते देखा है। हिन्दुस्तानियों को उनके सामने गिड़गिड़ाते देखा, इससे अपना अपमान अनुभव किया है और उसके प्रति विरोध अनुभव किया है। सबसे पुरानी स्मृति लगभग चार या पाँच वर्ष की आयु की है। मेरे एक सम्बन्धी युक्तप्रान्त के किसी कस्बे में कपास ओटने के एक कारखाने के मैनेजर थे। न जाने किस प्रसंग से मैं अपनी माँ के साथ इन के यहाँ आ कर ठहरा हुआ था। कारखाना स्टेशन के समीप ही था। स्टेशन के समीप ही अंग्रेजों के दो चार बँगले थे। आसपास इन लोगों का खूब आतंक था। इनमें से एक बँगले में मुर्गियाँ पली हुई थीं जो बँगले के बाहर सड़क पर भी घूमती फिरती थीं, एक संध्या मैं इन मुर्गियों से छेड़खानी कर रहा था। बंगले में रहने वाली मेम साहब ने मेरी इस हरकत पर मुझे फटकार दिया।

शायद 'गधा' या 'उल्लू' ऐसी ही कोई गाली भी दी। मैंने मेम साहब को गाली से ही प्रत्युत्तर दिया। उन्होंने मारने की धमकी दी तो मैंने भी धमकी से ही जवाब दिया और भाग कर कारखाने में आ छिपा।

मेरी इस हरकत की शिकायत जाने किन शब्दों में हमारे सम्बन्धी मैनेजर साहब के यहाँ पहुँची। यह खूब याद है कि उन्होंने क्रोध और आशंका से नेत्र लाल करके वह शिकायत मेरी मां से की। घर में ऐसा वातावरण छा गया कि मैंने कोई ऐसी हरकत कर दी है जिससे घर या कारखाने के लोगों पर भयंकर संकट पड़ सकता है। मेरी मां ने एक छड़ी लेकर मुझे खूब पीटा। मैं जमीन पर लोट-लोट गया परन्तु पिटाई जारी रही। इस घटना के परिणाम से मेरे मन में अंग्रेजों के प्रति कैसी भावना उत्पन्न हुई होगी, यह भांप लेना कठिन नहीं।

उसी उम्र की ऐसी ही एक और घटना याद है। तब मैं छः साल का था। उन दिनों हमारे यह सम्बन्धी नैनीताल जिले की तराई के काशीपुर कस्बे में कपास ओटने के कारखाने के मैनेजर थे और मेरी मां काशीपुर में आर्यकन्या पाठशाला में मुख्य-अध्यापिका थीं। हमारे ये सम्बन्धी वहां बड़े आदमी गिने जाते थे। हम लोग शहर से काफ़ी दूर कारखाने में ही रहते थे। मैंने उन्हीं दिनों पटरी और खड़िया ले कर नया-नया पाठशाला जाना आरंभ किया था। हमारे घर की स्त्रियाँ कभी-कभी दोपहर में आसपास के बागों और तालाबों की सैर के लिये भी चली जाती थीं। काशीपुर में कस्बे से कुछ ही दूर सुहावने जंगल में एक पक्का तालाब 'द्रोण सागर' है। सागर के किनारे एक मंदिर भी बना हुआ था, अब भी होगा ही। एक दिन दोपहर के समय हमारे घर की स्त्रियाँ सैर के लिये इस तालाब पर गई थीं। बिलकुल एकांत देख उन्हें तालाब में नहा लेने की इच्छा हुई। वे नहा ही रही थीं कि तालाब के दूसरी ओर दो अंग्रेज, शायद फ़ौजी गोरे अचानक दिखाई दे गये।

वहाँ दो अंग्रेज उस समय कैसे आ पहुँचे होंगे, यह मैं नहीं बता सकता। संभव है, तराई की नाप जोख करने वाले कोई लोग हों या पहाड़ की ओर जाती हुई किसी गोरी पलटन का पड़ाव वहाँ पड़ गया हो। उन गोरों का दिखाई देना था कि स्त्रियाँ भय से चीख़-चीख़ कर एक दूसरी से लिपटने लगीं और उसी अवस्था में अपने कपड़े उठा कर भाग निकलीं। मैं भी उनके साथ-साथ भागा। अंग्रेज से वह भय ऐसा ही था जैसे

बकरियों के झुंड को बाघ देख लेने से भय लगता होगा अर्थात् अंग्रेज कुछ भी कर सकता है, उससे डरकर रोने और चीखने के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं।

इसके अतिरिक्त फिरोजपुर छावनी में स्कूल में पढ़ते समय रेल के स्टेशन पर या कहीं बाजार में अंग्रेजों को इस देश के मालिकों की मुद्रा में सिर उठा कर चलते देखना, उनका सर्वसाधारण भारतीयों को गर्दन तिरछी कर घूरना मुझे सदा ही अपमान की चोट सा जान पड़ता रहा था।

सात-आठ वर्ष की अवस्था में मेरी माता ने मुझे स्वामी दयानंद के आदर्श के अनुकूल आर्य धर्म का तेजस्वी और ब्रह्मचारी प्रचारक बना देने की आशा से गुरुकुल कांगड़ी में भरती करा दिया था। बचपन में माता पिता से दूर, आर्यसमाजी अध्यापकों के नियंत्रण में कई बरस तक कष्टकर संयम निबाहने की सुख-दुख पूर्ण कई बातें याद हैं; नंगे पांव या खड़ाऊँ पहन कर चलना, काठ पर सोना, सख्त सर्दी में सूर्योदय से पहले ठंडे पानी से नहाना और भोजन के बाद अपना लोटा थाली स्वयं माँजना। इसके अलावा कभी किसी दूकान या स्त्री का मुख न देख पाना परन्तु सब से उग्र स्मृति है गुरुकुल के वातावरण में अंग्रेज तथा विदेशी शासन से विरोधी भावना की। उस उम्र में ही जाने किस प्रेरणा से हम लोगों को यह दृढ़ विश्वास था कि हम अंग्रेजों को अपने देश से मार भगायेंगे। अंग्रेजों को मार भगाने के कार्यक्रम की कोई रूपरेखा हमारे दिमाग में नहीं थी। हमारी कल्पना में यह बात जीवन का वैसा ही निश्चित क्रम थी जैसे हमारे शरीर का बढ़ कर युवा होना। इतना ही नहीं, यह भी कल्पना थी कि भारतवासियों को इंगलैंड में जाकर शासन करना होगा। अल्हड़पन की ऐसी कल्पनाओं का आधार गुरुकुल में दी जाने वाली शिक्षा का यह तत्त्व था कि संसार के सम्पूर्ण ज्ञान का मूल वेद हैं। वेदों का गायन करने वाले भारत के आर्यों से श्रेष्ठ संसार के किसी देश की कोई जाति नहीं हो सकती। अतीत काल में आर्यों का सम्पूर्ण संसार पर राज्य था। वैदिक धर्म में शिथिलता आ जाने के कारण आर्यों का पतन हो गया। इसी कारण इस देश में मुसलमानों का और फिर अंग्रेजों का राज्य हो गया परन्तु आर्य लोग शीघ्र ही उन्नति करके संसार पर फिर अपना साम्राज्य कायम



यशपाल, माता और छोटा भाई
सन् १९०८

करेंगे। वेदों के उद्धार का उद्देश्य हमारी दृष्टि में आध्यात्मिक उन्नति के साथ-साथ, अपनी सूझ बूझ के अनुसार राजनैतिक भी था। उस आयु में आध्यात्मिक लक्ष्य क्या समझ आता? अपने शत्रु अंग्रेजों से लड़ने की बात जरूर समझ में आती थी। और आध्यात्मिक भावना क्या कभी जीवन की परिस्थितियों से स्वतंत्र हो सकती है?

इस भावना के कारण बचकाने दिमाग की एक अत्यन्त अल्हड़ और निरर्थक कल्पना की स्मृति अब तक खूब स्पष्ट है। हम लोगों को प्रातः-सायं नियम से संध्या और हवन कराने के लिये पंक्तियों में या वृत्ताकार बैठा दिया जाता था। संध्या पालथी मारे, आँखें मूंदे, ऊँचे स्वर से मंत्रोच्चारण द्वारा होती थी। वैदिक संस्कृत के इन मंत्रों का अर्थ तो जानते नहीं थे, केवल तोते की तरह रटने का ही पुण्य होता था। याद है, आयु कम होने के कारण कुछ लड़के मंत्रोच्चारण करते-करते सो जाते और अधिष्ठाता* का चपत गाल पर आ पड़ने से रोते-रोते मंत्रोच्चारण करने लगते। यह तोतारटंत संध्या करते समय मन बाल्य-सुलभ कल्पनाओं से खेलता रहता। प्रायः अंग्रेजों के विरुद्ध बातें करते रहने के कारण आंख मूंद-मूंद मैं कल्पना में देखा करता कि इंगलैंड में आर्यों का राज्य हो गया है। उस समय की कल्पना में इंगलैंड कुछ कुछ गुरुकुल के वातावरण जैसा ही दिखाई देता था। कल्पना में देखता कि अंग्रेजों को धोती-कुर्ता पहनना पड़ रहा है। अंग्रेज ब्रह्मचारी चुटिया में गांठ लगाये, जनेऊ और खड़ाऊं पहने घूम रहे हैं और मैं उनका अधिष्ठाता बना हुआ हूँ। इस कल्पना की विशेष ध्यान देने योग्य बात यह थी कि अंग्रेजों को तो मैं कुर्ता-धोती में देखता और अपने आपको कोट-पतलून में। इस अद्भुत कल्पना का विश्लेषण यही हो सकता है कि प्रभुता और शक्ति सम्पन्न अंग्रेजों की पोशाक के प्रति आदर होने से उसे अपनाने की इच्छा होना और साथ ही दासता की प्रतिहिंसा में अंग्रेज को अपने आधीन देखने की भी इच्छा।

इस कम उम्र में हम विदेशी शासन के विरुद्ध किस प्रकार की राज-नैतिक बातें किया करते थे, इसका भी एक उदाहरण दे सकता हूँ। प्रथम महायुद्ध के दिन थे। संध्या समय भोजन के बाद कुछ देर टहलने का नियम था। गर्मियों या बरसात में रात के समय पठन-पाठन नहीं

* गुरुकुल में स्कूल के सुपरिन्टेण्डेण्ट को अधिष्ठाता पुकारा जाता था।

हो सकता था। इस मौसम में संध्या के भोजन के बाद की सैर काफी लम्बी हो जाती। एक दिन इस प्रकार की सैर के समय अपने किसी सहपाठी से बात-चीत करता हुआ मैं युद्ध में जर्मनी से अंग्रेजों के पराजय की कामना कर रहा था। पीछे से सहसा कन्धे पर हाथ आ पड़ा। घूम कर देखा तो आचार्य रामदेव थे। महात्मा मुन्शीराम जी के संन्यास ले लेने के बाद रामदेव जी ही गुरुकुल विश्वविद्यालय के प्रिंसिपल या आचार्य बने थे। आर्यसमाज, गुरुकुल पार्टी के क्षेत्र में वे बहुत ही बड़े नेता रहे हैं। उनकी लिखी हुई पुस्तक "आर्यसभ्यता का इतिहास" हमें गुरुकुल में पढ़ाई जाती थी। पाँचवीं कक्षा में उस पुस्तक को समझ पाना कठिन था परन्तु उससे इतना अवश्य समझ में आता था कि हमारे पूर्वज आर्य लोग दिग्विजयी थे, उनके पास हवाई जहाज आदि सभी वैज्ञानिक साधन थे। वेदों के अधिकारी समाज का दिग्विजयी होना अनिवार्य है।

आचार्य जी का हाथ अपने कन्धे पर देख मैं सकपका गया परन्तु उन्होंने मेरा उत्साह बढ़ाते हुए प्रश्न किया—"क्यों, तुम क्यों चाहते हो कि जर्मनी जीत जाये ?

"अंग्रेजों के हार जाने पर हमारा देश स्वतंत्र हो जायगा।"

"अंग्रेजों के हार जाने से ही हिन्दुस्तान का स्वतंत्र हो जाना आवश्यक नहीं। यहाँ जर्मनी का राज्य हो जायगा। जर्मन लोग अंग्रेजों की अपेक्षा अधिक कड़ा और अनुदार शासन करेंगे"—आचार्य जी ने समझाया।

"यदि जर्मन लोग अधिक दमन करेंगे तो हमारा देश उनसे लड़ने के लिये तैयार हो जायगा। अधिक दमन होने से क्रान्ति हो जायगी"-मैंने उस समय के अपने ज्ञान के अनुसार कहा।

"नहीं, यह आवश्यक नहीं कि दमन से क्रान्ति हो ही जाये। नादिरशाह और औरंगजेब ने कितना दमन और अन्याय किया था ? उससे तो क्रान्ति नहीं हुई।""बिना समझे बूझे ऐसी बातें नहीं करनी चाहिये। तुम्हें अभी पढ़ना-लिखना और समझना चाहिये"—आचार्य जी ने समझाया परन्तु अंग्रेज-विरोधी भावना के लिये मुझे धमकाया नहीं। उसकाल में इस प्रकार की बातचीत यदि लाहौर के किसी स्कूल अथवा

सरकारी यूनिवर्सिटियों से सम्बन्धित किसी संस्था का कोई विद्यार्थी करता तो परिणाम काफी सख्त हो सकता था।

गुरुकुल में सातवीं कक्षा में पहुंचकर मैं असाध्य रूप से बीमार हो गया। मुझे प्रबल संग्रहणी हो गई थी। चिकित्सा के सभी सम्भव उपाय किये गये। चिकित्सा के लिये मुझे देहरादून भी भेजा गया परन्तु इलाज न हो सका।

गुरुकुल में मैं निःशुल्क पढ़ता था। गुरुकुल में सब विद्यार्थियों के साथ समान व्यवहार का नियम था परन्तु सम्पत्ति के आदर की भावना वहाँ भी पहुँच ही जाती थी। यह पता लग जाने पर कि मैं निःशुल्क पढ़ता और रहता हूँ, सहपाठी इस बात पर मेरा तिरस्कार करने लगे। यह अनुभूति उस आयु में भी मुझे असह्यजान पड़ती थी। बार-बार बीमार होने और बहुत कमजोर हो जाने पर जाड़ों में मुझे साधारण नियम के अतिरिक्त विशेष गरम कपड़े दिये जाते थे और पौष्टिक भोजन के रूप में मक्खन, मलाई आदि अलग से दिया जाता था। जब सहपाठी इस प्रकार के ताने कसते कि "वाह वाह, यह एक तो मुफ्त यहाँ रहता है दूसरे सब लोगों से अधिक मक्खन, मलाई खाता है", तो इन चीजों का खाना मेरे लिये असम्भव हो जाता। मैं वह चीजें लेने से इन्कार कर देता। कह देता—यह चीजें मुझे अरुचिकर लगती हैं, मैं इन्हें नहीं खा सकता। इस पर सुनना पड़ता—"अपने घर पर कभी खाया हो तो अच्छा लगे।"

घर से तो मैं गरीब था ही क्योंकि हम दोनों भाइयों और मां का निर्वाह मां को मिलने वाले अध्यापिका के वेतन से ही चलता था। उन दिनों अध्यापिकाओं का वेतन बीस-पचीस रुपये से अधिक क्या होगा? सम्भव है, अपने घर में अपने साधनों से निर्वाह करने का अवसर होने पर मेरे निम्नमध्यम श्रेणी के आत्मसम्मान की भावना को उतनी ठेस न पहुँचती परन्तु गुरुकुल में समता की भावना और अधिकार अनुभव हो चुके थे और अपनी गरीबी के लिये तिरस्कार पाने से मेरे मस्तिष्क पर खूब गहरा प्रभाव पड़ा। इस अपराध के प्रति मैं अपने आपको किसी प्रकार उत्तरदायी नहीं समझ सकता था। इसका कोई उपाय भी न कर सकता था। मन में सोचता था, मैं खूब अमीर घर की सन्तान होता

तो कितना आदर और सुख मिलता ? इस प्रभाव से गरीबों के अपमान के प्रति मैं कभी उदासीन न हो सका।

गुरुकुल में दुःसाध्य रूप से बीमार हो जाना मेरे भविष्य जीवन के लिये अच्छा ही हुआ। इस बीमारी के कारण मुझे सातवीं कक्षा से लौट आना पड़ा। मुझे लाहौर के डी० ए० वी० स्कूल में भरती करा दिया गया। गुरुकुल में ही रहने पर मैं वहाँ चौदह वर्ष पूरे करके गुरुकुल का स्नातक ही बनता। मेरा अभिप्राय यह नहीं कि गुरुकुल में शिक्षा का स्तर नीचा है। मेरा ख्याल है कि जहाँ तक पठन-पाठन का सम्बन्ध है, गुरुकुल विश्वविद्यालय के ग्रेजुएट या स्नातक सरकारी यूनिवर्सिटियों के ग्रेजुएटों के स्तर से कुछ अधिक ही अध्ययन कर लेते हैं परंतु चौदह वर्ष के वनवास के कारण वे समाज के वास्तविक रूप से अपरिचित रह जाते हैं। इन स्नातकों के व्यवहार में एक विचित्र सा गौरवापन आ जाता है। वे इस समाज या संस्कृति के अंग नहीं जान पड़ते। वे किसी आधुनिक पुस्तकालय में रखी प्राचीन पांडुलिपि से जान पड़ते हैं। यों कई स्नातकों को मैंने बिलकुल योरुपियन लिबास में योरुपियन व्यवहार अपनाने की चेष्टा करते भी देखा है परन्तु दो बातें करते ही उनका स्नातकपन झलक आता है। गुरुकुल की शिक्षा छोड़ कर चले आने के लिये मैं सुखी हूँ परन्तु गुरुकुल के प्रबंध के प्रति कृतज्ञता भी अनुभव करता हूँ उन्होंने मेरा इलाज कराने और मुझे वहीं बनाए रखने के प्रयत्न में कोई न्यूनता नहीं की; खास कर ऐसी अवस्था में जब कि मैं एक निःशुल्क विद्यार्थी था। सम्भवतः मुझ पर यह कृपा इसलिये भी थी कि मैं काफी मेधावी और होनहार समझा जाने लगा था।

गुरुकुल की शिक्षा की चर्चा मैंने क्रान्तिकारी भावना की ओर झुकाव के प्रसंग में आरम्भ की थी, इसलिये एक आध बात और इस सम्बंध में यहाँ कहूँगा। गुरुकुल में सरकारी यूनिवर्सिटियों और स्कूलों के लिये तैयार की गई पाठ्य पुस्तकें नहीं पढ़ाई जातीं। गुरुकुल विश्वविद्यालय अपनी पाठ्य पुस्तकें प्रायः स्वयं तैयार करता है। इस बात का प्रभाव और विषयों की अपेक्षा इतिहास पर अधिक पड़ता है। इतिहास की पाठ्य पुस्तकें तो शायद अंग्रेज सरकार के कोप की आशंका का ख़याल करके ही लिखी जाती थीं परन्तु पढ़ाते समय मौखिक रूप से बहस और चर्चा दूसरे ही ढंग से होती थी। उदाहरणतः कलकत्ते के ब्लैक

होल" की घटना पर वहाँ कोई विश्वास नहीं करता था और बताया जाता था कि यह प्रपंच भारत में रहने वाले अंग्रेजों ने अपनी सरकार को यहाँ सेना भेजने के लिये प्रेरित करने के लिये गढ़ा था। इसी प्रकार बंगाल के जगत सेठ उत्तमचन्द के साथ धोखे, नन्दकुमार की फाँसी, चेतराम के साथ अन्याय और वारेन हेस्टिंग्ज के अत्यचारों को सही-सही बताने का भी साहस किया जाता था। यह भावना गुरुकुल के वातावरण में सदा छायी रहती थी कि गुरुकुल विदेशी सरकार से स्वतंत्र शिक्षा देता है और अंग्रेज गुरुकुल को सदा शंका और सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। कभी-कभी ऐसी सनसनी भी फैल जाती कि कोई जासूस भेद लेने के लिये वेश बदल कर आया था और अमुक जिम्मेवार व्यक्ति ने उसे मार-मार कर भगा दिया।

गुरुकुल के अधिकारी सरकार के सन्देह के विषय में जरूर सतक रहते थे। जैसा कि मैं ऊपर कह आया हूँ, सरकारी अफ़सरों, गवर्नरों और वाइसराय तक को निमन्त्रित करके वे यह दिखाने की चेष्टा करते रहते थे कि वे राजद्रोही नहीं हैं। इन लोगों के आने पर काफ़ी सजावट करके सत्कार प्रकट करने के लिए विद्यार्थियों को पंक्तियों में मार्ग के दोनों ओर खड़ा कर दिया जाता था परन्तु इससे भी विद्यार्थियों के मन में अंग्रेजों के प्रति आदर की कोई भावना कभी उत्पन्न नहीं हुई। विद्यार्थी इसे अपने अधिकारियों की मजबूरी और नीति ही समझते थे।

ऊपर गुरुकुल कांगड़ी द्वारा अपनी पाठ्य पुस्तकें स्वयं बनाने और प्रकाशित करने की चर्चा की है। उसके कई कारण थे; एक तो ब्रिटिश लेखकों द्वारा घृणित रूप में चित्रित अपने इतिहास को पढ़ाने से अरुचि; दूसरा-भूगोल, गणित, रसायन आदि विषयों को हिन्दी के माध्यम द्वारा पढ़ाने का यत्न। तीसरा विशेष महत्वपूर्ण कारण था, ब्रह्मचारियों को शृंगार और कामुकता की भावना से अपरिचित रखते हुए साहित्य की शिक्षा देने का उपाय।

गुरुकुल की पद्धति में ब्रह्मचर्य का महत्व सब से अधिक है। आर्य संस्कृति के पुनरुत्थान की दृष्टि से संस्कृत साहित्य की पर्याप्त शिक्षा भी अनिवार्य है। संस्कृत साहित्य में शृंगार ही शृंगार भरा हुआ है इसलिये आवश्यक था कि ब्रह्मचारियों के लिये संस्कृत साहित्य की विशेष

पाठ्य पुस्तकें बनाई जायें। इस का उपाय यह किया गया कि आरम्भिक कक्षाओं के लिये 'हितोपदेश', 'पंचतंत्र' आदि में से वह सब प्रकरण निकाल कर छपवा दिया गया जिनमें स्त्रियों के चरित्र या यौन व्यवहारों का प्रसंग है। इसी प्रकार संस्कृत के काव्यों और नाटकों से भी शृंगार के वर्णन निकाल कर उन्हें ब्रह्मचारियों के लिये उपयोगी पाठ्य पुस्तकें बना लिया गया।

गुरुकुल में ब्रह्मचर्य रक्षा के उद्देश्य से शिक्षा और जीवन को इस रूप में ढाला जाता था कि छात्रों को यथासम्भव स्त्री और शृंगार के सम्बन्ध में कोई परिचय न होने पाये। छात्रावास और विद्यालय की सीमाओं में किसी भी स्त्री का दिखाई दे जाना उतना ही आकस्मिक था जितना कि दिल्ली के कनाट सरकस या बम्बई के फोर्ट के इलाके में जंगली हिरनों अथवा नील गाय के झुण्ड का कुलाचें मारते हुये दिखाई दे जाना। पूरे वर्ष में एक दिन भी ब्रह्मचारी स्त्री को नहीं देख सकते थे। गुरुकुल के वार्षिक उत्सव पर एक दिन स्त्रियां ब्रह्मचारियों के रहने की जगह देख सकती थीं। उस दिन ब्रह्मचारियों के लिये दोपहर का भोजन साथ बांध कर वनवास के लिये भेज दिया जाता था, स्त्री सामने आ ही जाये तो ब्रह्मचारी स्वयम छिप जाये। यों तो गुरुकुल में सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से नाटक भी किये जाते थे परन्तु इन नाटकों में भी स्त्री पात्र नहीं रहते थे। एक ऐसे समाज और कला की कल्पना की जाती थी जिसमें स्त्री का अभाव था।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये स्त्री, शृंगार और यौन सम्बन्धी ज्ञान से ब्रह्मचरियों को पूर्ण रूप से अपरिचित रखने की पूरी चौकसी कर लेने के बावजूद विद्यार्थियों में इन विषयों की जिज्ञासा, और वह भी विकृत रूप लेकर, पहुँच ही जाती थी। गुरुकुल के आठ-नौ से बारह-तेरह वर्ष के विद्यार्थियों में यह कौतुहल पैदा हुये बिना नहीं रह सकता कि हमारा जन्म कैसे हुआ होगा? इस विषय पर प्रकाश डाल सकने वाले भी स्वयं उन में ही निकल आते। वास्तविकता मालूम होने पर उन्हें एक मानसिक चोट सी लगती। वे आपस में इस प्रकार के प्रश्न करने लगते कि क्या स्वामी दयानन्द और भगवान रामचन्द्र जी जैसे महापुरुष भी ऐसे ही घृणित और पापी ढंग से ही पैदा हुए होंगे? स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को पाप समझ लेने पर बचपन का मस्तिष्क यह कैसे विश्वास

कर सकता है कि पाप करने पर भगवान महापुरुषों को जन्म दे देगा ? ऐसे धर्म संकट में पड़ जाने पर वचकाना मस्तिष्क महापुरुषों को पवित्र मानने के लिये अमैथुनी सृष्टि की कल्पना करता है। पवित्र ईसामसीह को अक्षत कुमारी का पुत्र मानने की कल्पना का आधार यह नौ दस वर्ष का आयु का मस्तिष्क ही रहा होगा। निरन्तर वर्जना के कारण उनका कौतूहल यौन सम्बन्धी विचारों की ओर और भी अधिक उग्र हो जाता। उन में अप्राकृतिक यौन चेष्टायें भी प्रकट होने लगती थीं। यह ठीक है कि ऐसे उदाहरण शायद गुरुकुल में दूसरे स्कूलों की अपेक्षा बहुत कम होते हों। इस अन्तर के भी दो कारण हो सकते हैं। एक तो ऐसे अपराधों को सब से बड़ा अपराध मान कर इनके लिये कड़े से कड़ा दण्ड दिया जाना और दूसरा ऐसे अपराधों के प्रति बहुत ही उग्र दमन होने के कारण विद्यार्थियों में इस अपराध को प्रकट कर देने का साहस ही न होना। समाज और व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य और विकास के लिये संयम और ब्रह्मचर्य के महत्व से इनकार नहीं किया जा सकता परन्तु गुरुकुल में इसके लिये जो उपाय व्यवहार में लाये जा रहे हैं वे मनोवैज्ञानिक या प्राकृतिक नहीं हैं। उन्हें केवल दमन मात्र कहा जा सकता है। इसका परिणाम शायद इन प्रवृत्तियों को अस्वाभाविक रूप से उग्र बना देना ही होता है।

गुरुकुल से मैं लगभग चौदह वर्ष की आयु में लौटा था। लौटने के समय एक दुर्घटना हो गई। अब गुरुकुल गंगा के इस ओर हरिद्वार में ही बन गया है। उस समय गुरुकुल आने जाने के लिये कनखल के रास्ते गंगा के पार तीन मील पड़ता था। जाड़ों में सिकुड़-सूख जाने पर गंगा का विस्तार तीन पृथक-पृथक धाराओं में बंट जाता और इन धाराओं पर नावों के पुल बना दिये जाते थे। गरमियों में पहाड़ों पर बर्फ पिघलने से यह धाराएँ वेगवान होकर फैल जाती हैं और आपस में मिल जाती हैं पुल, टूट जाते हैं।

गर्मियों और बरसात में गंगा का विस्तार और वेग बढ़ जाने से हरिद्वार और गुरुकुल के बीच यातायात का सम्बन्ध केवल "तमेड़ों" द्वारा होता था। 'तमेड़' भी एक विचित्र जलयान है। मिट्टी के तेल के खाली पीपों के मुँह मूंद कर उन्हें बांसों की कमचियों और रस्सियों से समतल बाँध दिया जाता है। एक तमेड़ की लम्बाई-चौड़ाई प्रायः अच्छी

बड़ी खाट के बराबर होती है। कनस्तरों के इस तख्त पर सामान या सवारियाँ बैठा दी जाती है। तमेड़ चलाने वाले इसके सहारे जल में तैरते हुए तमेड़ को ठेलते-ठेलते इस पार से उस पार पहुँचा देते हैं। बहाव और हवा तेज़ और लहरें बड़ी-बड़ी होने पर यह तमेड़ लहरों से ऐसे उलट जाती हैं जैसे कढ़ाई में खलबलाते घी में फूली-फूली पूरियाँ उलटती-पुलटती रहती हैं। इन तमेड़ों को उलट जाने से बचाने के लिये तीन-तीन, चार-चार को एक साथ बाँध दिया जाता है। मैं जब गुरुकुल से लौटा तब बरसात चोटी पर थी; गंगा में बाढ़ आई हुई थी।

मुझे गुरुकुल से लाने के लिये मेरी मां लाहौर से गई थीं। एक तमेड़ हमारे लौटने के लिये दे दी गई। मैं क्योंकि बीमार था, मुझे भीगने से बचाने के लिये तमेड़ पर कैनवस की एक कुर्सी रख दी गई थी। हम लोग हरिद्वार पहुंचने के लिये तमेड़ पर गंगा पार कर रहे थे। हमारे साथ एक और व्यक्ति भी था जो किसी समय गुरुकुल का विद्यार्थी रह चुका था परन्तु अपने पारिवारिक कारणों से गुरुकुल छोड़ गया था। तमेड़ आधा रास्ता तय करके गंगा के उद्दाम विस्तार में बीचोंबीच पहुँची थी कि सहसा उलट गई।

मैं एक गोता खाकर जब पानी के ऊपर उठा तो समीप ही अपनी मां को डुबकियाँ लेते हुए देखा। गुरुकुल में ऐसा कोई विद्यार्थी न था जो तैरना ना जानता हो। मैंने दो हाथ तैर कर मां को बांह से पकड़ लिया। उसी समय उलटी हुई तमेड़ मेरे शरीर से छू गई। दूसरे हाथ से मैंने तमेड़ का सहारा ले लिया। मां की ऐनक पानी में बह गई थी। यह ऐसा ही था जैसे उनकी आंखों पर पट्टी बँध गई हो। पानी में गिर पड़ना उनके लिये कोई मामूली बात न थी। वे बदहवासी में चिल्ला रहीं थीं—"लड़के को बचाओ, लड़के को बचाओ।" हमारे साथी मुसाफिर ने भी तुरन्त ही मां को दूसरी बांह से पकड़ तमेड़ का सहारा ले लिया था। तमेड़िए ने भी तमेड़ को संभालने में सहायता दी।

पानी में से उचक कर तमेड़ पर बैठ जाना या बैठा देना सम्भव नहीं था। हम लोग तमेड़ से लटके-लटके बहने लगे और तमेड़िया तमेड़ को ठेल-ठेल कर दूसरे किनारे की ओर बढ़ाने लगा। उसकी देखा-देखी हम लोग भी तैरते हुये तमेड़ को ठेल कर तेज़ बहाव को धीरे-धीरे

काटने लगे। हम लोग लगभग चार मील तक वह और तैर कर कन-खल से नीचे बहाव से निकल सके। सामान तो सब वह गया परन्तु प्राण बच गये।

मैं बीमारी के कारण काफी कमजोर था। इसलिये पानी से निकलने पर अपने पांव खड़े रहना दूभर जान पड़ रहा था; फिर भी तीन मील पैदल चल कर मायापुर पहुँचे बिना उपाय नहीं था। मां का हृदय तो आशंका से दहल रहा था कि बीमारी की अवस्था में ऐसे भीगने और घोर परिश्रम का परिणाम जाने क्या होगा, परन्तु मुझे कुछ भी न हुआ। लाहौर पहुँच मामूली इलाज से ही जलवायु, परिवर्तन के प्रभाव से मैं जल्दी ही चंगा हो गया। मेदा कमजोर हो जाने का प्रभाव तो आयु भर के लिये रह गया है।

सात वर्ष के बनवास के बाद लाहौर पहुचने पर मैंने अपरिचित समाज का एक आतंक सा अनुभव किया। आचार-व्यवहार, बोल चाल सभी बातों में मैं अपने आपको स्थानभ्रष्ट और दबा हुआ अनुभव करता था। अनेक दूसरी विषमताओं के साथ-साथ यह भी अनुभव किया कि जैसे गुरुकुल में विदेशी शासन विरोधी राजनैतिक बातें स्वतंत्रता से की जा सकती थीं, लाहौर में वैसे कर सकने का अवसर नहीं। कुछ ऐसी बातें मैंने अपनी मां से की ही होंगी क्योंकि उन्होंने मुझे इस प्रकार की बातें न करने की सख्त ताकीद कर दी। लाहौर में भाई परमानन्द जी, बाल मुकन्द, बलराज आदि की राजनैतिक गिरफ्तारियों के कारण घोर आतंक छाया हुआ था। मैं 'आनन्द मठ' 'अंदमान की गूंज' आदि पुस्तकें गुरुकुल में ही पढ़ आया था इसलिये लाहौर के वातावरण की घुटन को विशेष रूप से अनुभव कर रहा था। इसके साथ ही गुरुकुल में रहने के कारण उर्दू बिलकुल नहीं और अंग्रेजी भी कम ही जानने की कठि-नाई अनुभव करता था। डी० ए० वी० स्कूल में शिक्षा का माध्यम तो हिन्दी था, वहाँ उर्दू नहीं पढ़ाई जाती थी परन्तु लाहौर में उर्दू न जानने से हर तरफ कठिनाई अनुभव होती थी। हिन्दी में तब यहाँ कोई भी अखबार प्रकाशित नहीं होता था और न किसी दुकान का साइनबोर्ड ही हिन्दी में था। मैंने शीघ्र ही कामचलाऊ उर्दू सीख ली। यह सन् १९१८ के अन्त तक की बातें हैं। १९१९ में रौलेट-बिल विरोधी कानून

का आन्दोलन स्थगित हो जाने के कुछ दिन बाद मैं लाहौर से फ़िरोज़पुर छावनी में चला गया।

मेरी मां फ़िरोज़पुर छावनी की प्राइमरी आर्य कन्यापाठशाला में पढ़ाती थीं। हम लोग छावनी में रहते थे। मैं छावनी के सरकारी मिडिल स्कूल में दाखिल हुआ था। छावनी का वातावरण राजनैतिक प्रभाव से बिलकुल अछूता था। लोगों में ऐसा आतंक था कि मैजिस्ट्रेट जिसे चाहे चौबीस घण्टे में बारह पत्थर (छावनी की सीमा) से बाहर निकल जाने की आज्ञा दे सकता है।

सार्वजनिक कार्य की भावना से मैं वहाँ आर्यसमाज मन्दिर में जाने लगा। मुझे काफ़ी मंत्र याद थे। आर्यकुमार सभा में लड़कों जैसा लेक्चर भी दे लेता था। इसीलिये उस क्षेत्र में जगह बना लेना कठिन न था। छावनी में पहले-पहल अपने से ऊपर की कक्षा के और फ़िरोज़पुर शहर के आर्य हाईस्कूल में पढ़ने वाले एक विद्यार्थी लजवन्तराय से परिचय और घनिष्ठता हुई।

लजवन्तराय आर्यसमाजी था। लजवन्तराय के स्वर्गीय पिता सरकारी इंजीनियर और रायसाहब थे। बिरादरी के बाहर एक विवाह कर लेने के कारण उनकी प्रवृत्ति रूढ़िवाद के विरुद्ध सुधारवादी मार्ग की ओर हो गई थी। उनका झुकाव आर्यसमाज की ओर हो गया था। रायसाहब का देहान्त कई वर्ष पूर्व हो चुका था। अब उनके परिवार में कोई आर्यसमाजी उत्साह दिखाई न देता था। परिवार की चेष्टा थी कि बिरादरी पिछली बातों को भुलाकर उन्हें अपने में मिला ले। परन्तु लजवन्तराय की प्रवृत्ति सार्वजनिक जीवन की ओर थी। वह उत्साह से आर्यसमाज के काम में भाग लेता था।

लजवन्तराय के घर में हिन्दी की पुस्तकें काफी बड़ी संख्या में थीं। चन्द्रकान्ता सन्तति, दूसरे जासूसी उपन्यास, रवि बाबू और शरत बाबू के बंगाली उपन्यासों, अनुवाद, कुछ बंगाली क्रान्तिकारियों के चरित्र, प्रेमचन्द और सुदर्शन की पुस्तकें, स्त्री सुबोधिनी से लेकर सत्यार्थ प्रकाश तक आर्यसमाजी साहित्य सभी मौजूद था। मेरा ख़याल है कि मैंने इन में से कोई भी पुस्तक बगैर पढ़े न छोड़ी होगी। इन उपन्यासों और कहानियों को पढ़ने का प्रभाव यह हुआ कि मैंने एक उपन्यास लिखना

आरम्भ किया। एक दस्ता कागज के करीब लिख डाला, फिर वह कहाँ गया, याद नहीं।

कई बार मुझ से यह प्रश्न भी पूछा जाता है कि मैंने लिखना कब शुरू किया; या सबसे पहली कहानी कब लिखी थी? सबसे पहली कहानी मैंने, दूसरे कई लोगों की तरह पाँचवीं या छटी कक्षा में, गुरुकुल में पढ़ते समय लिखी थी। उस समय भी मुझे पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त दूसरी पुस्तकें विशेषतः इतिहास और कहानी पढ़ने की ओर रुचि थी। गुरुकुल में लिखने-पढ़ने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने के लिये अच्छा वातावरण था। ऊँची श्रेणी के विद्यार्थी रंग-बिरंगी स्याहियों से लिखी और हाथ के बने चित्रों से सुसज्जित दो पत्रिकाएँ निकालते थे। उन में से एक का नाम 'हंस' था। जयचन्द्र जी विद्यालंकार और सत्यव्रत जी विद्यालंकार उस समय दसवीं कक्षा में पढ़ते थे और हाथ का लिखा दैनिक 'अगुआ' प्रकाशित करते थे। उन्हें तभी से अपनी भविष्य की जिम्मेवारी का आभास था कि उन्हें 'अगुआ' बनना है। इन लोगों की देखा-देखी छोटी श्रेणी के विद्यार्थी भी अपनी पत्रिकायें निकालने की चेष्टा करते थे।

हम लोगों ने पाँचवीं या छठी श्रेणी में हाथ से लिखी पत्रिका निकालने की चेष्टा की थी। उसका शायद एक ही अंक निकला था। मैंने इस में एक कहानी "अंगूठी" शीर्षक से लिखी थी। इस कहानी का भाव था कि एक व्यक्ति ने अपने मित्र को अंगूठी उपहार में दी। उपहार पाने वाले मित्र ने आर्थिक कठिनाई में उस अंगूठी को बेच दिया। यह देख उपहार देने वाला मित्र अपमान मान कर नाराज हो गया। दोनों में भयंकर शत्रुता हो गई। हमसे ऊपर की कक्षा के विद्यार्थियों ने इस कहानी की तारीफ की और मुझे ऐसा भरोसा हो गया कि मैं कहानी लिख सकता हूँ। उस कहानी के बाद मैंने लिखने का दूसरा प्रयत्न इसी समय १६२० में किया।

मैं लजवन्तराय के साथ आर्यकुमार सभा और आर्य समाज के काम में भाग लिया करता था। उन दिनों एक प्रश्न पर हम नौजवानों को बुजुर्गों से लोहा लेना पड़ा। वह रोचक कहानी है:—आर्यसमाजों का यह कायदा है कि वर्ष में एक बार उत्सव करके आर्यसमाज

का प्रचार किया जाता है। फिरोजपुर छावनी में दो आर्यसमाज मन्दिर थे ; एक कालिज पार्टी का, दूसरा गुरुकुल पार्टी का। कालिज पार्टी वाले आर्यसमाज मन्दिर में प्रति रविवार को दस या बारह व्यक्ति जमा हो जाते थे और गुरुकुल पार्टी के आर्यसमाज मन्दिर में तीन या चार परन्तु दोनों मन्दिर अलग-अलग कायम थे। इन दोनों का एक में मिल जाना सम्भव नहीं था। मैंने और लजवन्तराय ने 'बुद्धिमानी' का यह प्रस्ताव किया भी लेकिन जैसे किसी ने कुछ सुना ही नहीं। आर्यसमाज के दो भाग कर देने वाले महान नेता क्या हमसे कम समझदार थे ?

दोनों आर्यसमाजों के जलसे भी अलग-अलग होते थे। जलसे के मौके पर उपदेशक और भजनीक बाहर से बुलाये जाते थे। जलसे के समय दोनों ओर के पंडालों में हजार-पाँच सौ की भीड़ भी हो जाती थी। मैं फ़िरोजपुर छावनी में डी० ए० वी० स्कूल से आया था। मेरी मां कालिज पार्टी की कन्यापाठशाला में नौकरी करती थीं। इसलिये मैं कालिज पार्टी की आर्यसमाज और आर्यकुमार सभा में भाग लिया करता था। उन दिनों इस आर्यसमाज के मन्त्री लाला फ़तेहचन्द जी थे। लाला जी छावनी के किसी दफ्तर में बड़े बाबू थे।

वार्षिक उत्सव का अवसर आया। भजनीकों और उपदेशकों को बुलाने के लिये बजट का सवाल उठा होगा। आर्यसमाज के कुछ उपदेशक और भजनीक प्रान्तीय आर्य-प्रतिनिधि सभा या आर्य प्रादेशिक सभा में नियमित रूप से वेतन पर काम करते थे, शायद अब भी करते होंगे। इन लोगों के दौरे के कार्यक्रम उसी प्रकार बनाये जाते थे जैसे कम्पनियाँ अपने सफरी एजेण्टों के बनाती हैं। यह लोग साबुन-तेल और दवाइयों का प्रचार न कर वैदिक धर्म का प्रचार करते थे। इनके आने-जाने के मार्ग व्यय और अतिथिसत्कार का खर्च स्थानीय आर्यसमाजों पर पड़ता था। कुछ उपदेशक और भजनीक Free lance या स्वतंत्र थे। इनका आदर अधिक था। सम्भव है, इन्हें बुलाने पर अधिक व्यय होता हो। अभिप्राय यह है कि उत्सव के लिये बजट का प्रश्न था। जो मन्त्री महोदय को चार दिन के शौक के लिये अपव्यय जान पड़ रहा था।

भजनीकों की आवश्यकता प्रधानतः नगरकीर्तन के समय होती

थी। नगर कीर्तन पंजाब के नगरों में विशेष समारोह से होता था। नगरकीर्तन रामलीला की झांकियों के जुलूस का सुसंस्कृत और आर्य-समाजी संस्करण है। बैलगाड़ियों पर तख्त बाँध दिये जाते थे। इन तख्तों पर बैठे आर्यसमाजी भजनीक हारमोनियम और तबला लेकर वैदिक धर्म के प्रचार और समाजसुधार के उपदेशपूर्ण भजन गाते हुये बाजारों से गुजरते थे। लाहौर में नगर कीर्तन के अवसर पर ऐसी भीड़ हो जाती थी कि बाजारों में यातायात बन्द हो जाती। देवियाँ बाजार किनारे के मकानों की छतों से इस समारोह को देखतीं। शेष नगरों में भी नगर की सामर्थ्य के अनुसार यही सब कुछ होता था।

आर्यसमाज के मंत्री फतेहचन्द जी ने व्यय से बचने के लिये प्रस्ताव रखा कि केवल एक या दो उपदेशक बुला लिये जायें। नगर-कीर्तन को सफल बनाने का उपाय उन्होंने बताया कि आर्यसमाजी भजनों की पुस्तकों 'आर्यगायन' और 'आर्यसंगीत रत्नप्रकाश' से अच्छे अच्छे भजन लिख कर कुछ मिरासियों और भांडों को याद करा दिये जायँ। जहाँ तक गाने का सवाल है वे जनता को कहीं अधिक सन्तोष दे सकेंगे। इस तरीके से मामूली खर्च में सब काम हो जायगा। अतिथि सत्कार की परेशानी भी न होगी। व्यवसायिक दृष्टि से तो यह बात चतुरतापूर्ण मालूम होनी चाहिए परन्तु कुछ लोगों ने भांडों से उपदेश के गीत गवाने में आर्यसमाज का अपमान समझा और इसका विरोध किया। हम नौजवानों ने भी आदर्श के दृष्टिकोण से इस प्रस्ताव का घोर विरोध किया और मंत्रि महोदय की मितव्यय की यह योजना सफल न हो सकी।

मिडिल स्कूल से परीक्षा में मैं प्रथम पास हुआ। इस घटना से मेरी माता को जो प्रसन्नता हुई और उनकी आंखों में जो चमक आ गई, वह मुझे अब तक याद है। मेरा छोटा भाई इस समय दूसरी कक्षा में पढ़ता था। मेरा और उसका सब व्यय मां के ही कंधों पर था। हम दोनों को सफल और आदर्श बनाने के लिए मां कांगड़ा का पहाड़ी इलाका छोड़ कर पंजाब के लू से तपने वाले मैदानों में आर्यकन्या पाठशालाओं की नौकरी करके निर्वाह कर रही थी। इस नौकरी से मां को कुछ उद्देश्य या परमार्थ के कर्तव्य की पूर्ति का भी सन्तोष होता था। उन्हें आर्य-समाज के वैदिक धर्म में अपार भक्ति थी जो मेरे विचारों में घोर परि-

वर्त्तन आ जाने के बाद अब भी मौजूद है ही। इन दिनों ठीक याद नहीं आर्यकन्या पाठशाला में बजट की कमी हो जाने के कारण या अनाथालय के अधिकारियों के अनुरोध के कारण माताजी ने प्राइमरी पाठशाला छोड़ कर आर्यअनाथालय की कन्या पाठशाला में काम कर लिया। हम लोग छावनी की मुख्य बस्ती से लगभग दो मील दूर आर्यअनाथालय में आकर रहने लगे। सरकारी मिडिल स्कूल से पास हो जाने के बाद मैं 'मनोहर लाल हाई स्कूल' में नौवीं कक्षा में भर्ती हो गया।

इन दिनों छावनी में अछूत बालकों को पढ़ाने के लिए एक रात्रि पाठशाला आर्यसमाज की ओर से खोली गई। उन्हें पढ़ाने के लिये स्वयंसेवकों की आवश्यकता हुई। मैं उसके लिये तैयार हो गया। दो और भी लड़के तैयार हो गये। मुझे हैडमास्टर का पद दिया गया। प्रति संध्या दो मील चल मैं इस रात्रि पाठशाला में पढ़ाने के लिये पहुँचता था। उतना ही लौटना भी पड़ता। कुछ ही दिन बाद दूसरे स्वयंसेवकों में शिथिलता आ गई। रात्रि पाठशाला चलाने वालों ने निश्चय किया कि अवैतनिक लोगों से काम नहीं चलेगा। इसलिये दो सहायक अध्यापकों की जगह किसी प्राइमरी स्कूल के एक मास्टर साहब को दो घण्टे के लिये नियुक्त कर लिया गया। रात्रि पाठशाला दो ही घण्टे चलती थी। इन मास्टर साहब की ट्यूशन या वेतन पाँच रुपया तै किया गया था। मेरी निष्ठा से संतुष्ट होकर और मेरी गरीबी में सहायता देने के लिये हैडमास्टर के पद पर मुझे ही रहने दिया गया। मेरा वेतन ८) तै हुआ। यह मेरी पहली कमाई थी। स्वयं स्कूल में पढ़ने के अतिरिक्त प्रायः साल भर यह नौकरी करता रहा। इस नौकरी और स्कूल की पढ़ाई के अतिरिक्त मुझे घर का भी कामकाज थोड़ा बहुत करना ही पड़ता था। मां की तनखा उस समय ३०) ही थी। उन्हें कन्या पाठशाला में सुबह सात बजे पढ़ाने चला जाना पड़ता। मैं और मेरा भाई दस बजे स्कूल जाते। मां हम लोगों के लिये और अपने लिये भी खाना बना कर रख जातीं। मेरा भाई धर्मपाल अभी बहुत छोटा था। मां स्कूल से थकी हुई लौटकर चौका-बरतन करें, यह कुछ अन्याय सा जंचता। इसलिये मैं स्कूल जाने से पहले चौका बरतन कर देता था। पानी प्रायः एक फर्लांग से लाना होता था। मध्यम श्रेणी की मनोवृत्ति के कारण इज़्ज़तदार घर की स्त्रियों का पानी भर कर लाना

में उचित नहीं समझता था। पैसा नहीं था परन्तु मैं अपने आपको इज्जतदार जरूर समझता था।

कांग्रेस में काम

सन् १९२१ में असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ। पहले ही कह चुका हूँ कि फिरोजपुर छावनी राजनैतिक प्रभाव से बिलकुल अछूती थी। छावनी से तीन मील दूर फिरोजपुर शहर में कांग्रेस के लेक्चर और जलसे होते रहते थे, खद्दर का प्रचार भी होता था। यही जमाना था जब पहले-पहल खद्दर का आदर्श देश के सामने आया। शहर की घटनाओं की अफवाहें छावनी तक पहुंचती रहती थीं। कभी-कभी शहर जा कर व्याख्यान सुनने या जलूस देख आने का भी अवसर मिल जाता था। फिरोजपुर शहर में सविनय कानून-भंग करने वाले कांग्रेसी स्वयं-सेवकों की गिरफ्तारियाँ भी होती रहती थीं। मैं और लजवन्तराय चाहते थे कि छावनी में भी कुछ किया जाय। लजवन्तराय एक वर्ष फेल हो कर 'मनोहरलाल हाईस्कूल' में आ गया था। हम दोनों सहपाठी बन गये थे। हम लोग छावनी में विदेशी कपड़ों की होली जलाना चाहते थे परन्तु अपने कपड़े दिये बिना दूसरों से कपड़े माँगना कैसे सम्भव होता ? मेरी मां को कांग्रेसी आन्दोलन से पूरी सहानुभूति थी परन्तु घर के कपड़े जला देने का महत्व उन्हें समझ न आता था। खास कर ऐसी अवस्था में जब कि नये कपड़े खरीद सकना हमारे लिये कठिन था।

उन दिनों मैं शहर के सर्वसाधारण की तरह मिल के ही कपड़े पहनता था। अब उन्हें जला कर खद्दर के कपड़े पहनने की इच्छा होती थी। उस समय खद्दर पहनने का अर्थ था, विदेशी शासन के विरुद्ध अपना रोष प्रकट करना। यह कर्त्तव्य जान पड़ता था परन्तु व्यय का सवाल था। कर्तव्य पूरा कर सकने के लिये अवसर और सामर्थ्य भी तो चाहिये। पंजाब में सभी घरों में शौकिया चरखा कातने का रिवाज रहा है। मेरी मां काम के बोझ से इतनी दबी रहने पर भी रात को कभी-कभी चरखा कातती थीं। कातने के लिये रुई बाजार से नहीं खरीदती थीं। लिहाफ या तोशक काफी वर्ष पुरानी हो जाने पर उसमें गर्मी नहीं रह जाती, नई भरवानी ही पड़ती है। अबरा साबित रहने पर पुराने लिहाफ के अबरे में ही नई रुई भरवा ली जाती है। पुरानी रुई जिसे पंजाबी में लुगड़ कहते हैं, चरखे पर कात ली जाती है।

इस कताई से जो कपड़ा बनता था उसे घर के भीतर मोटे-झोटे कामों में इस्तेमाल किया जाता था या दरियाँ बनवा ली जाती थीं। पंजाब में मध्यम श्रेणी के परिवारों में बिस्तर की चादर के नीचे बिछाए जाने वाले खेस प्रायः लुग्गड़ के ही बनते थे। शायद ही कोई ऐसा फूहड़ या साहबी ढंग का परिवार होगा जो लुग्गड़ का उपयोग न करता हो। हमारे घर में भी लुग्गड़ का बना हुआ कुछ खद्दर रक्खा था। मैंने उसी का कुर्ता, पायजामा, गांधी टोपी और सर्दियों में एक कोट भी बनवा लिया। उस समय शायद स्कूल भर में मैं और लजवन्तराय, दो ही लड़के खद्दर पहनने वाले थे।

आखिर हम लोगों ने हिम्मत की मां के पास एक विलायती रेशमी साड़ी थी, उसे ले जाने के लिये मैंने बहुत संघर्ष किया परन्तु सफलता न हुई। इच्छा यह थी कि विदेशी की होली में कोई बढ़िया चीज जनता को दिखा कर जलाई जाय तो जनता पर कुछ प्रभाव पड़े या जनता में विदेशी यानि अंग्रेजी के विरुद्ध घृणा पैदा हो सके। मैं अपना एक कोट ले गया। यह कहना मुश्किल है कि वह विलायती ही था, हो सकता है, देसी मिल का ही हो। मतलब तो उसे विदेशी बता कर जलाने से था। घर से और कपड़ा ले जाने में कठिनाई यह भी थी कि कुछ दिन पहले हमारे यहाँ चोरी हो गई थी। हमारे घर के दोनों बकस चोरी चले गये थे, केवल वही कपड़े शेष रह गये थे जो शरीर पर थे या खूँटी और अलगनी पर लटके हुये थे। उस गरीबी में भी चोरी होने का कारण यही जान पड़ता है कि मैं घर से बाहर निकलते समय हमेशा सुघड़ और साफ कपड़े पहनने की कोशिश करता था, चाहे घर में धो कर गरम थाली से ही उन पर स्त्री क्यों न करनी पड़े। मां को इस विषय में बहुत अधिक खयाल रहता था क्योंकि वे अपने आपको अच्छे कुल की समझती थीं। निम्न-मध्यम श्रेणी के सम्मान का रक्षक कपड़ा ही होता है। हमारी मां कपड़ों की चिन्ता अपने शरीर से कम नहीं करती थीं।

हम लोगों ने छावनी भर से लगभग आठ दस कपड़े इकट्ठे कर लिये। इनमें दो-तीन लजवन्तराय के ही घर के थे। पीतल का घण्टा लेकर हम दोनों ने छावनी के बाजार में डुग्गी पीटी कि विलायती कपड़े की होली जलायी जायगी और लेक्चर होगा। साठ-सत्तर आदमी राम-लीला के मैदान में इकट्ठे हो गये। लजवन्तराय और मैंने भी लेक्चर

दिया कि देश को स्वतंत्र करने के लिये खद्दर पहनना चाहिये ; विलायती कपड़ों और मिलों के कपड़ों में गाय की हड्डियों का चूरा और सुअर की चर्बी लगाई जाती है। ऐसा कपड़ा पहनना हिन्दू-मुसलमान के धर्म के विरुद्ध है। आजाद होने के लिये विदेशी कपड़े को छोड़ कर खद्दर पहनना जरूरी है।

संध्या समय प्रदर्शन और जलसा करने के बाद जब मैं अँधेरे में दो मील अनाथालय की ओर लौट रहा था तब बार-बार यह खयाल आता कि पुलिस अभी आकर मुझे गिरफ्तार कर सकती है, बल्कि बिलकुल अकेले अँधेरे में गिरफ्तार हो जाने की आशंका से बहुत भय मालूम होता था। चलता-चलता कई बार लौट-लौट कर देखता था कोई पीछे आ तो नहीं रहा ? जब अनाथालय के फाटक के भीतर कदम रख लिया तो जान पड़ा कि बच गया।

अँधेरे में छावनी से अकेले अनाथालय की ओर जाते हुए गिरफ्तार हो जाने की आशंका और भय बीसियों बार अनुभव किया क्योंकि विदेशी कपड़े की होली जला देने के बाद हमने कई राजद्रोही या कांग्रेसी जलसे रामलीला के मैदान में कर डाले थे। छावनी के आठ-दस दूसरे आदमी भी हम लोगों का साथ देने लगे थे। कभी-कभी हम फिरोजपुर शहर से भी स्वयंसेवकों को व्याख्यान देने के लिये बुला लेते थे। लजवन्तराय मुझसे आयु में दो-तीन वर्ष बड़ा था और वह इन जलसों में जरूर लेक्चर देता। कभी-कभी लेक्चर देने वाले दूसरे लोग भी मिल जाते। मुझे उनके व्याख्यानों से सन्तोष नहीं होता। मैं स्वयं व्याख्यान देना आवश्यक समझता था और देता भी था।

दूसरे साथियों के व्याख्यानों से मुझे सन्तोष इसलिये न हो पाता था कि वे लोग व्याख्यानों में केवल महात्मा गांधी, लाला लाजपतराय और बड़े पटेल की आज्ञाओं की घोषणा मात्र करके आजादी के युद्ध की ललकार देते थे और अंग्रेजी शासन को गालियाँ भर देते थे। मैंने "देश दर्शन" नामक पुस्तक पढ़ ली थी जिसमें भारत और विदेशों के व्यापार के आँकड़े दिये गये थे। कम्पनी के कारनामे और भारतीय व्यापार को नष्ट करने के षड्यंत्रों का भी जिक्र था। मुगलों के समय के अनाज और घी के भाव भी मुझे याद थे। मैं इनकी तुलना उस समय के भावों से करके अंग्रेजी शासन के प्रति असन्तोष जगाना

चाहता था। अब, अंग्रेजी राज के समय के भावों से आज के भावों की तुलना करें तो क्या कहेंगे ? मैं अपने इस आर्थिक राजनैतिक ज्ञान के आधार पर जनता को यह समझाने की चेष्टा करता था कि अंग्रेज शोषण किस तरह करते हैं ? और अंग्रेजी शासन से मुक्त हो जाने पर ही देश की अवस्था सुधार सकती है। सुनने वालों को मेरी बातें काफ़ी सार्थक मालूम होती थीं। प्रायः ही दूसरों के व्याख्यान देते समय श्रोता पुकार-पुकार कर कहते थे, 'लाल कोट वाले' को बोलने दो।

'लाल कोट' का किस्सा यह था कि मेरे पास लुग्गड़ के खद्दर का जो सफ़ेद कोट था वह बार-बार मैला हो जाता था। उसे मैंने सनप्रूफ का रंग दे देने की कलात्मक चेष्टा की थी। बाजार से हरा, लाल और पीला रंग ला उन्हें एक साथ पका कर कोट को रंग लिया। पहले तो कोट का रंग दालचीनी जैसा दिखाई दिया लेकिन एक ही बार धोने पर हरा और पीला रंग छूट गये, रह गया केवल लाल रंग; ठीक वैसा जैसा कि बड़े-बड़े रेलवे स्टेशनों के कुलियों के कुर्ते का होता है।

मैंने अँधेरे में अकेले गिरफ़्तार हो जाने के भय की बात कही है। जब-जब भी मैं संध्या समय जलसे के बाद छावनी से अंधेरे में अना-थालय की ओर अकेला लौटता, गिरफ्तार हो जाने का भय अनुभव होता परन्तु जलसा करना और लेक्चर देना छोड़ा नहीं। भीड़-भड़क्के में जलसा करते समय गिरफ्तार हो जाने की कल्पना से भय नहीं मालूम होता था परन्तु अकेले में गिरफ्तार होने की आशंका से दिल दहलता था। इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह जान पड़ता है कि भीड़ के सामने गिरफ्तार होते समय जनता की सहानुभूति अपनी ओर होने के विश्वास से साहस मिलता रहता है, सुनसान अंधेरे में गिरफ्तार होते समय साहस बढ़ाने के लिये जनता की सहानुभूति नहीं रहती। गिरफ्तार होने की दोनों अवस्थाओं को ध्यान में रखने से कांग्रेसी भाइयों के माला पहन और तिलक लगा कर भीड़ को पीछे-पीछे लिये थाने जा सहर्ष गिरफ्तार हो जाने के साहस में और क्रान्तिकारियों या आजकल के कम्युनिस्टों के छिप-छिप कर अपना कार्य करने के साहस में अन्तर स्पष्ट हो सकता है। इस अन्तर को ध्यान में रख जब मैं आज कांग्रेसी-सरकार के मंत्रियों को, कम्युनिस्टों के गुप्त आन्दोलन को कायरतापूर्ण कहते सुनता हूँ तो बड़ा मजा आता है।

इन दिनों स्कूलों में कैसा राजनैतिक वातावरण था, इसके लिये भी एक उदाहरण दे दूं :—'मनोहरलाल हाई स्कूल' में वार्षिक निरीक्षण के लिये इन्सपेक्टर आने वाले थे। स्कूल को सजाने के लिये विद्यार्थियों से 'सूक्तियां' (Mottos) बनाने के लिये कहा गया। कुछ विद्यार्थियों ने God Save the King, Health is Wealth, Konwledge is Virtue. इत्यादि-इत्यादि सूक्तियां बनाईं। मैंने लाल-नीली स्याही से "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" बनाकर तैयार किया। स्कूल के सैकण्ड मास्टर लाला मोहनलाल जी ने पूछा इसका मतलब क्या है ? वे अंग्रेजी के अध्यापक थे। मैंने अर्थ समझाया—"माता और मातृभूमि स्वर्ग से भी बड़े हैं।" मास्टर साहब सोचते रहे कि इन्सपेक्टर के आने पर स्कूल में ऐसी सूक्ति का होना संकट का कारण तो न हो जायगा ? कुछ देर चिन्ता कर उन्होंने साहस से गर्दन ऊँची कर उत्तर दिया—"कोई परवाह नहीं इसे लगा दो ! देखा जायगा !" स्वराज्य की बात तो दूर रही, मातृभूमि की प्रशंसा भी उस समय स्कूलों में असाधारण बात थी। और यह तब जब कि १९२१ का स्वराज्य आन्दोलन जोरों पर चल रहा था, गांधी जी ३१ दिसम्बर १९३१ तक स्वराज्य ले लेने की प्रतिज्ञा किये हुये थे ? गांधी जी को ईश्वर से प्राप्त प्रेरणा में और जनता की अनुभूति में क्या साम्य था ?····इसकी तुलना में याद कीजिये गुरुकुल कांगड़ी की बात।

यह १९२१ के अन्तिम दिन थे। मैट्रिक की परीक्षा सामने थी। मैं फ़िरोजपुर छावनी की सीमा में राजनैतिक आन्दोलन में भाग ले रहा था परन्तु मन में उत्कट इच्छा थी कि असहयोग की राष्ट्रीय पुकार में साथ देने के लिये स्कूल छोड़ दूं और कांग्रेस का स्वयंसेवक बन कर सत्याग्रह करूँ। यह भी दिखाई देता था कि मैट्रिक की परीक्षा में केवल कुछ ही महीने शेष हैं। मां बार-बार समझातीं कि मैट्रिक की परीक्षा देनी ही होगी।

कांगड़े में भरोसे योग्य हमारी कुछ भी पैत्रिक सम्पत्ति शेष न थी। कभी रही होगी तो मेरे जीवन काल में तो नहीं थी। दो-चार सौ हाथ जमीन का टुकड़ा और कच्चा मकान जो कुछ था, उसके लिये कांगड़े जाकर बसना न मेरी मां को पसन्द था, न मुझे। पिता अभी जीवित थे और वे अपने पुराने कारोबार पर डटे हुये थे। उनका कारो-

बार था, बिना हिसाब रक्खे रुपया सूद पर देना। रुपया वे भारी सूद पर देते थे, रकमें छोटी छोटी होती थीं। इस व्यवसाय के बावजूद उनकी आर्थिक स्थिति गिरती ही जा रही थी। एक समय वे छोटी सी दुकान भी करते थे परन्तु मेरे दोनों चाचाओं से सदा वैमनस्य रहने के कारण वे दुकान से अलग हो चुके थे। दोनों चाचा एक के बाद एक पागल हो गये। दुकान का न जाने क्या हुआ ? चाचाओं और पिता में वैमनस्य का कारण यह था कि उनकी मातायें सौतेली थीं। मेरे दादा का देहान्त मेरे जन्म से बहुत पहले ही हो चुका था।

मेरी मां का विवाह पिता जी की प्रौढ़ावस्था में ही हुआ था। इस विवाह की जड़ में कोई पारिवारिक षड्यंत्र था। मेरी मां एक अच्छे समझे जाने वाले परिवार की थी। यह लोग अपने पूर्वजों को शामचौरासी के राजाओं के राजमंत्री बताते थे। अपने पिता के परिवार के बारे में गर्व की ऐसी कोई बात नहीं सुनी। यह परिवार आपसी झगड़ों के कारण प्रायः उजड़ ही चुका था। मेरे पिता का भी स्वभाव ऐसा था कि वे जड़ जमा कर घर बसाने के बजाय इधर-उधर छोटी मोटी नौकरी करके गुजारा करना ही पसन्द करते थे और अपने सूद के व्यापार को बहुत गुप्त रखते थे। कुछ लोगों का खयाल था कि लाला हीरालाल (मेरे पिता) के पास काफी रुपया है लेकिन वह बहुत कंजूस है। मैंने इस रुपये का कोई प्रमाण कभी नहीं देखा। रुपया सूद पर देते समय वे किसी को बताते नहीं थे। रुपया मारा जाने या न मिलने की अवस्था में उनका क्षोभ देख कर ही लोगों को पता चलता था। मैं जब भी कांगड़े गया, अपने पिता की स्थिति मुझे असम्मानजनक ही अनुभव हुई। परन्तु जाने क्यों लोग उन्हें 'लाला' के सम्मानजनक नाम से ही सम्बोधन करते थे, चाहे वे कैसी भी नौकरी क्यों न कर रहे हों। कांगड़े से पंजाब में आ बसने वाले हमारे कुछ सम्बन्धी यदि आर्यसमाज के प्रभाव में न आ गये होते और उनकी कृपा से मेरी मां को अक्षर ज्ञान नसीब न हो गया होता तो मैं सम्भवतः कांगड़े के दूसरे गरीब खत्री नौजवानों की तरह पीठ पर गठड़ी में दुकान बांधे कुछ कारोबार करता या लाहौर, अमृतसर में बर्तन मांजने की ही नौकरी करता।

मैट्रिक की परीक्षा निकट थी और मेरे सामने समस्या यह थी कि मैं यदि यह परीक्षा पास नहीं करता तो समाज में मेरे लिये क्या स्थान

होगा ? मेरी माता और मेरे छोटे भाई का क्या बनेगा ? ऐसा ख्याल था कि मैट्रिक पास कर लेने पर समाज के बाज़ार में मेरा कुछ तो मूल्य हो ही जायगा। कांग्रेस स्वयंसेवक बनने पर भी मैं पढ़ा लिखा स्वयंसेवक तो बनूंगा।

यह धारणा ठीक न होगी कि मेरे मन या कल्पना में कोई महत्वाकांक्षा न थी। मेरी कल्पना में सदा ही सम्मानित और सम्पन्न जीवन का आदर्श रहता था। मेरी महत्वाकांक्षा थी कि मैं जैसे तैसे वकालत पास करलूंगा और चोटी का वकील बनूँगा। हमारे सम्बन्धियों में कुछ लोग काफी अच्छी आर्थिक स्थिति में थे और हैं। मैं उनसे किसी भी प्रकार कम रहने की कल्पना नहीं कर सकता था। कल्पना में यह योजना थी कि व्यवसाय कर सकने योग्य शिक्षा पा लेने पर जीवन का मार्ग मेरे लिये खुल जायगा। मैट्रिक की परीक्षा महत्वाकांक्षाओं के मार्ग पर पहला फाटक था जिसे पार कर लेना मैंने आवश्यक ही समझा और असहयोग में कूद पड़ने के आवेश को स्थगित रखा। परीक्षा की तैयारी काफी परिश्रम से की। परीक्षा दे देने के बाद परिणाम की प्रतीक्षा नहीं की। परिणाम प्रकाशित होने में प्रायः तीन मास लग ही जाते हैं। निश्चय किया कि तीन मास तो पूर्णरूप से देश सेवा में लगाने ही चाहिये। परीक्षा समाप्त होते ही तुरन्त कांग्रेस के स्वयंसेवकों में सम्मिलित होने के लिये छावनी से फिरोजपुर शहर चला गया।

फिरोजपुर शहर में जिला कांग्रेस कमेटी का दफ्तर और कार्यकर्त्ताओं के रहने का स्थान गोबरमंडी में था। गोबरमंडी में एक बहुत बड़े चौकोर मैदान के चारों ओर आढ़त और थोकफरोशी की दुकानें हैं। बीच के बड़े मैदान में बड़ी से बड़ी सभा का आयोजन हो सकता है। एक ओर दुकानों की दूसरी मंजिल में कांग्रेस का दफ्तर और कार्यकर्त्ताओं के रहने की जगह थी। मैं दरी, कम्बल, चादर और बदलने के लिये एक जोड़ा खद्दर के कपड़े लेकर कांग्रेस के दफ्तर में आ पहुँचा। आने पर मालूम हुआ कि कांग्रेस के कार्यकर्ताओं और प्रचारकों में से कुछ लोग वेतन पर और कुछ अवैतनिक काम करते थे। वेतन लेने वाले तीस से पचास रुपया माहवार तक पाते थे। इन्हें कांग्रेस के लंगर में अपने भोजन का व्यय देना पड़ता था। अवैतनिक कार्यकर्ता भोजन

दफ्तर के लंगर में कर लेते और कांग्रेस के काम पर आने जाने का किराया भर ले लेते। मैं अवैतनिक कार्य करने के लिये आया था।

दफ्तर में कांग्रेस कार्य का संचालन महात्मा नन्दगोपाल जी करते थे। नन्दगोपाल जी बहुत साधु स्वभाव और आध्यात्मिक प्रवृत्ति के आदमी हैं। इनकी आध्यात्मिकता राधास्वामी सम्प्रदाय की है। वे कांग्रेस के कार्यकर्ताओं को राजनैतिक अध्ययन और अनुशीलन के लिये प्रेरित करते थे और साथ ही आचार-व्यवहार में संयम और निष्ठा की भी शिक्षा देते रहते। कुछ राजनैतिक पुस्तकें दफ्तर में इकट्ठी हो गई थीं; इनमें 'देश दर्शन' को मैंने दुबारा बहुत ध्यान से पढ़ा। देश की आर्थिक स्थिति पर जो भी पुस्तकें मिलीं उन्हें समझने में उस समय काफी दिक्कत भी हुई, इसलिये उन्हें बार-बार पढ़ा। अंग्रेजी साम्राज्यशाही द्वारा भारत के शोषण के विरोध की मेरी निष्ठा गहरी हो गई। नन्दगोपाल जी स्वयं भी कार्यकर्त्ताओं को सुबह शाम राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं पर व्याख्यान और आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में भी उपदेश देते। ईश्वरभक्ति की ओर उनकी विशेष प्रेरणा रहती। कार्यकर्त्ता मुसलमान, हिन्दू और सिख भी थे। वे तीनों सम्प्रदायों के लोगों को अपने-अपने साम्प्रदायिक माध्यम से ईश्वरभक्ति द्वारा आत्मिक शक्ति पाने का परामर्श देते। अभिप्राय यह था कि सम्प्रदायों में भक्ति का मध्यम और प्रकट रूप अलग-अलग होने पर भी लक्ष्य एक ही है। यह गांधीवादी आध्यात्मिकता का व्यवहारिक रूप है और इसका सूत्र है:—"अल्ला ईश्वर तेरे नाम, सब को सुमति दे भगवान।"

नन्दगोपाल जी चरित्र के सम्बन्ध में बहुत सतर्क रहने का उपदेश देते थे क्योंकि कांग्रेस के कार्यक्रम में स्त्रियों ने भी भाग लेना आरंभ किया था। कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं और स्वयंसेवकों के लिये स्त्रियों और लड़कियों से संपर्क में आने का कुछ-न-कुछ अवसर रहता ही था। वे हमें समझाते कि मन में स्त्री के प्रति आकर्षण और वासना उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है परन्तु हमारा कर्तव्य है कि उस आकर्षण और वासना को मनोबल से दबा दें। उन्होंने इसका उपाय भी बताया था:—आप आंखें मूंद कर एकाग्रचित हो जाइये। जिस स्त्री के प्रति आकर्षण या वासना अनुभव होती है, उसे कल्पना में देखने का यत्न कीजिये। उस के सब से मोहक रूप की कल्पना करते हुए सम्बोधन कीजिये—"तू

मेरी मां है, तू मेरी बहन है।" ऐसा सम्बोधन एक बार नहीं, सौ बार नहीं, हजार बार और दस हजार बार दोहराइये। इस प्रक्रिया को सुबह, दोपहर और शाम को भी कीजिये, रात सोते समय भी कीजिये। एक दिन उस नारी की ओर आपका मनोभाव वैसा ही निर्विकार हो जायगा जैसा कि माता या बहिन की ओर होता है।

नन्दगोपाल जी को सभी लोग महात्मा कह कर ही संबोधन करते थे। वे अपने कर्तव्य के प्रति बहुत निष्ठावान तो थे ही इसके अतिरिक्त घंटों आँखें मूंद समाधि भी लगाते थे। सत्य की ओर उनकी विशेष निष्ठा थी और वे सत्य को शब्दशः पूर्ण चाहते थे। एक दिन महात्मा जी और मैं लंगर में भोजन कर रहे थे। हम लोग ऐसे बैठे थे कि मैं दरवाजे से बाहर देख सकता था। महात्मा जी की उस ओर पीठ थी। बाहर से किसी आगंतुक ने पुकारा—"कोई है ?"

महात्मा जी ने मुझ से प्रश्न किया—"कौन है ?"

मैंने उत्तर दिया—"कोई स्त्री जान पड़ती है।"

महात्मा जी ने मुस्कराकर मुझे टोक दिया—"जान पड़ती है, क्यों कहते हो ? तुमने तो पुकारने वाली को देख लिया है। सत्य को छिपाना नहीं चाहिये। स्त्री को देख कर छिपाना नहीं चाहिये। छिपाने की आवश्यकता तभी होती है जब मन में विकार हो।"

उनका यह टोकना मुझे खटका तो जरूर परन्तु मैंने स्वीकार किया कि मेरी बात शब्दशः सत्य नहीं थी। उनकी यह बात मुझे खूब याद है और मैं कई बार यह सोच चुका हूँ कि मैंने वह उत्तर इस तरह लपेट कर क्यों दिया था। कारण यही जान पड़ता है कि स्त्री की ओर न देखने के उन के निरन्तर उपदेश के कारण मैं उन के सम्मुख यही दिखाना चाहता था कि मैंने स्त्री को नहीं देखा।

नन्दगोपाल जी के राजनैतिक और आर्थिक व्याख्यानों का आधार प्रायः गोपालकृष्ण गोखले और महामना मालवीय जी के लेख और व्याख्यानों की पुस्तकें होती थीं। मुझे स्वयं भी इन दोनों महापुरुषों के लेखों और व्याख्यानों में बहुत रुचि थी क्योंकि इनमें वस्तु भाग यथेष्ट रहता था। इसके अलावा स्वामी विवेकानन्द और अरविन्द की पुस्तकें भी मैंने वहाँ पढ़ीं। इन पुस्तकों को पढ़ कर अपने राष्ट्र की बौद्धिक श्रेष्ठता

का विश्वास पाया। कांग्रेस के राजनैतिक कार्यक्रम में आध्यात्मिकता का पुट रहा है। कुछ साथी गीता का पाठ भी किया करते थे। गीता के अधिकांश श्लोक मुझे गुरुकुल से याद थे। यहाँ लोकमान्य बालगंगाधर तिलक का गीता भाष्य पढ़ा। यह सब तैयारी राजनैतिक कार्यों को उचित रूप से कर सकने की थी और इसमें नन्दगोपाल जी की प्रेरणा सहायक थी। कांग्रेस के प्रचार के लिये वहाँ इकठ्ठे हुए कार्यकर्त्ताओं में केवल नन्दगोपाल जी ही यूनिवर्सिटी की शिक्षा प्राप्त थे। अधिकांश लोग मैट्रिक भी न थे। नन्दगोपाल जी ने परामर्श दिया कि मैं प्रचार का काम आरम्भ करने से पहले अध्ययन कर लूं तो उचित होगा। मैं उनके आदेशानुसार दिन भर यही करता। स्थानीय स्वयंसेवकों के योग्य जो काम होते, उन्हें भी उनके आदेश से पूरा करता रहता।

गांधी जी ने ३१ दिसम्बर १९२१, तक स्वराज्य ले लेने की प्रतिज्ञा की थी। यह सन १९२२ गर्मियों की बात कह रहा हूँ। गांधी जी की प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं हुई थी। विदेशी शासन-विरोधी आन्दोलन सब ओर से उग्र रूप लेने की प्रवृत्ति दिखा रहा था। देहातों में आन्दोलन की पुकार पहुँच चुकी थी। देहातों की जनता लगानबन्दी की मांग कर रही थी। किसान की इस मांग का अर्थ था कि वह अपनी जोत की जमीन का मालिक बन जाय! देहात की जनता के लिये आन्दोलन का और कोई रूप हो भी क्या सकता था? जनता की मांगों, भावना और व्यवहार में गांधीजी को फिर १९१९ की अशान्ति के लक्षण दिखाई दे रहे थे। उन्होंने १२ फरवरी १९२२ को आन्दोलन पूर्णरूप से स्थगित करने की आज्ञा दे दी। उत्साह के मार्ग में अड़चन आ जाने से सब ओर बेचैनी और निराशा फैल गयी। कार्यकर्ता संघर्ष के जिस रूप से आकर्षित हो कर घरबार छोड़ एकत्र हुये थे, वह उनसे छीन लिया गया। ऐसी अवस्था में कांग्रेस अन्दोलन को खद्दर और अहिंसा के प्रचार का ही व्यापक रूप दिया जा रहा था। कार्यकर्त्ताओं को निर्देश दिया जा रहा था कि वे जनता में घूम-घूम कर कांग्रेस के उद्देश्यों का प्रचार करें, जनता को खद्दर पहनने, कांग्रेस और गांधी जी में पूर्ण विश्वास रखने की शिक्षा दें, हिन्दू-मुस्लिम एकता को दृढ़ बनाएँ। सच्चे हिन्दू, सच्चे मुसलमान और सच्चे सिख बनें। जब जनता कांग्रेस की इन आज्ञाओं को पूर्ण कर देगी, स्वराज्य अनायास ही हो जायगा।

कार्यकर्त्ता आपस में बैठ कर निराशा और क्षोभ प्रकट करते कि हम ने घरबार धर्म का प्रचार करने के लिये नहीं छोड़ा है। हम तो विदेशी सरकार से लड़ कर उसे अपने देश से निकालने के लिये लड़ना चाहते हैं। फिरोजपुर जिले के देहात से आये एक अवैतनिक सिख कार्यकर्ता की बातें मुझे खूब याद हैं। कार्यक्रम का रूप बदल जाने के कारण वह खिन्न हो कर दिन भर पड़ा-पड़ा सोया करता और जब आपस में बात करता तो कहता—"क्या एकता का झूठमूठ प्रचार करें ?....कौन लड़ रहा है ? खामुख्वा हिन्दू, सिख, मुसलमान का शोर करने से क्या लाभ ? अंग्रेज से लड़ने-लड़ाने की बात तो करते नहीं। कहते हैं, जा कर केश, कृपाण, कड़ा, कच्छा, कंघी का प्रचार करो। सिखों को इसकी चिन्ता होगी, वे करते रहेंगे। हमें क्या मतलब कि झांक-झांक कर देखें कि लोगों ने पायजामे के भीतर कच्छा पहना है या नहीं ? हमें क्या मतलब कि पगड़ी के भीतर किस के केश कितने लंबे हैं और उन में कितनी जुएँ हैं ? हम लोगों से जा कर कहें कि कंधे से छुरा (कृपाण) लटका लो लेकिन उसे इस्तेमाल कभी न करो। आखिर लोग उससे आलू और प्याज ही तो काटेंगे।" आखिर यह साथी एक रोज़ दफ्तर छोड़ अपने गाँव को लौट गया कि चल कर खेती बारी ही करें।

ऐसे साथियों से बातचीत करते और उनके साथ हँसते समय मुझे यह अनुभव होता था कि उन के स्वभाव की अस्थिरता और चंचलता का कारण उन की शिक्षा की कमी है। राष्ट्रीय संघर्ष के नेता गांधी जी शीघ्र ही संघर्ष का उचित निर्देश करेंगे। इसलिये हमें संगठनात्मक रूप से आन्दोलन के लिये तैयार हो जाना चाहिये। कार्यकर्त्ताओं को काम छोड़-छोड़ कर जाते देख मुझे दुख भी होता। मैं चाहता था कि कार्यकर्त्ता बढ़ें। एक दिन मैंने अपनी मां को ही समझाया कि अनाथों की सेवा और आर्यसमाज के उद्देश्यों की पूर्ति वास्तव में तभी हो सकेगी जब हमारे हाथ में देश के शासन की शक्ति होगी। तुम निर्वाह के लिये कांग्रेस से उतना ही वेतन ले सकती हो जितना तुम आर्यसमाज से ले रही हो। आर्यसमाज की अपेक्षा कांग्रेस का कार्य ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। मां को कांग्रेस के काम से तो पूरी सहानुभूति थी, वह मेरी बात को तर्कसंगत भी समझती थीं परन्तु अपनी जीविका की एक मात्र साधन, अपनी नौकरी को जोखिम में न डालना

चाहती थीं। मैंने इतनी जिद्द की कि उन्होंने अनाथालय से अवैतनिक छुट्टी ले ली और उतनी ही तनखा पर कांग्रेस का प्रचार करने के लिये तैयार हो गई। मैं स्वयं अवैतनिक ही काम करता रहा।

इस बीच महात्मा नन्दगोपाल जी गिरफ्तार हो गये। उनकी गिरफ्तारी का कारण उनके कुछ राजद्रोही व्याख्यान थे। इस समय आन्दोलन दबा हुआ था तो भी सरकार संगठन करने वाले कार्यकर्त्ताओं को चुनचुन कर गिरफ्तार कर के आन्दोलन को निमूल करने में लगी हुई थी। जिस समय महात्मा जी गिरफ्तार हुये मैं हफ्ते भर के लिये प्रचार के दौरे पर देहात में गया हुआ था।

महात्मा नन्दगोपाल जी के गिरफ्तार हो जाने पर जिले के मन्त्री का काम जालन्धर के कृष्णदास जी भल्ला करने लगे। वे पहले कमसिरिएट में सरकारी नौकर थे। ठीक-ठीक याद नहीं कि असहयोग की पुकार सुन कर नौकरी छोड़ आये थे या उससे पहले ही किसी कारण छोड़ चुके थे। कृष्णदास जी भी मंत्री का काम बहुत मुस्तैदी से कर रहे थे। अवैतनिक कार्यकर्ताओं की संख्या घटती हो जा रही थी। उस समय मैं अकेला ही अवैतनिक कार्यकर्ता था। कृष्णदास जी के जाने पर मैं फिर प्रचार के लिये दौरे पर देहात चला गया। प्रचारक प्रायः तीन-तीन की टोली बना कर जाते थे। इस बार की टोली में मैं, पंडित तोताराम और मोहम्मदीन मिरासी के साथ गया।

इस दौरे में भी पहले जैसे ही अनुभव हुए परन्तु इस बार मुझ पर प्रभाव अधिक गहरा पड़ा। सम्भव है, दूसरे साथियों की निराशा के कारण मैं स्वयं भी आलोचक बनने लगा था। हम लोग सुबह ही अपना-अपना बिस्तरा-पोटली उठा कर एक गांव से दूसरे गांव को चल देते। इक्का मिल जाता तो सवारी कर लेते। कहीं सहानुभूति रखने वाले लोग बैल गाड़ी का भी प्रबन्ध कर देते, वरना यात्रा पैदल ही होती। छोटे-छोटे गावों को छोड़ कर हम ऐसे गावों में ही जाते जिन की आबादी पांच सौ या हजार हो। प्रचार संध्या समय होता था।

प्रचार का कार्यक्रम यों थाः—गांव की किसी खुली जगह में कोई छोटी सी दरी या बोरी बिछा दी जाती। कभी श्रद्धालु लोग एक खाट डाल देते। गांव के सम्मानित लोगों के साथ हम खाट पर बैठ जाते।

इन लोगों से बातचीत प्रायः पण्डित तोताराम ही करते थे। बीच में बोलने पर चुप करा देते :—"हम जो कह रहे हैं, सुनो। जरा चेहरे पर दाढ़ी-मूंछ तो उग लेने दो।" सभा का आरंभ मोहम्मदीन सारंगी पर कोई कौमी गजल गा कर करते। कुछ लोगों के आजाने पर पहले मुझे व्याख्यान देने के लिये कहा जाता। मेरे व्याख्यानों का आधार 'देश दर्शन' और ऐसी ही दूसरी किताबों से संचित ज्ञान था। मैं बताने की चेष्टा करता कि कितने करोड़ रुपये का कपड़ा विदेश से भारत में आ जाता है और उसके बदले भारत का धन विदेश चला जाता है। मैं स्वयं भी उस समय यह विश्वास करता था कि अंग्रेजों के राज से पहले भारत में सभी लोग सम्पन्न और समृद्ध थे। गांव के लोगों को यह भी बताने का यत्न करता कि देश का खून चूसने वाले विदेशियों से आजाद हो जाने पर हमारी अवस्था सुधर जायगी। व्याख्यान देते समय मुझे सुनने वालों के चेहरों पर पूर्ण उपेक्षा देख कर बड़ी निराशा होती। उनके चेहरों से यह तो प्रकट होता कि वे कोई नई बात सुन रहे हैं परन्तु उस बात का सम्बन्ध उनके अपने जीवन से नहीं है। मेरे बाद पंडित तोताराम का व्याख्यान होता। पंडित तोताराम प्रायः रामायण और महाभारत की कथाएँ सुनाते। यह कथायें सुनने वालों को मेरे व्याख्यान की अपेक्षा अधिक समझ में आतीं। वे लोगों को ईश्वर भक्ति का उपदेश और आपस में प्रेम से रहने की शिक्षा देते। इसके बाद मोहम्मदीन की बारी आती। वे सारंगी बजाकर कोई कौमी गजल या महात्मा गांधी की स्तुति का गाना सुनाते, उदाहरणत:—"कौम की आँखों का सितारा गांधी, चर्खे पै पुरनूर सितारा गांधी।" फिर मजाकिया चुटकुले सुनाते। उनके लेक्चर को सुन कर लोग खूब हँसते और मोहम्मदीन देर तक सारंगी पर गाते रहते।

प्रति संध्या इस प्रकार के अनुभव से प्रचार के प्रति मेरा उत्साह घटता जा रहा था। खास बात यह थी कि हम लोग स्वराज्य द्वारा किसानों के उद्धार के वायदे तो करते थे परन्तु स्वाराज्य का कोई रूप न बता पाते। लोग पूछते कि स्वराज्य से किसानों की अवस्था में क्या अन्तर आ जायगा, यह हमें स्वयं मालूम न था। स्वराज्य के रूप का अपरिचय केवल मेरा ही अज्ञान नहीं था, इसे पट्टाभि भी स्वीकार करते हैं। "गांधी जी ने कभी इसकी व्याख्या नहीं की थी। जनता विदेशी-शासन

से संघर्ष करने के लिये उतावली थी। स्वराज्य कैसे और क्या होगा इसकी व्याख्या गांधी जी ने भी नहीं की थी।"*

नेता जी सुभाष बोस जैसे समझदार आदमी तक परेशान थे। उन्होंने अपनी पुस्तक "Indian Struggle" पृ० ६८ में स्वीकार किया है—"गांधी जी क्या आशा रखते थे यह मैं समझ न सका। या तो वे रहस्य को समय से पूर्व प्रकट नहीं करना चाहते थे या वे स्वयं ही नहीं जानते थे कि वे सरकार को किस तरह से परास्त कर लेंगे।" स्वयं पंडित नेहरू ने अपनी आत्मकथा में पृ० ७६ पर लिखा है—"यह स्पष्ट है कि हमारे अधिकांश नेता 'स्वराज्य' का मतलब विदेशी राज्य से 'स्वतन्त्रता' नहीं समझते थे। गांधी जी स्वयं इस विषय पर भोले बने हुये थे और इस बात को स्पष्ट करने की आवश्यकता भी नहीं समझते थे"। पृ०७३ पर नेहरू जी ने स्वीकार किया है—"जो भी हो, हम गांधी जी को अद्वितीय चामत्कारिक नेता मानते थे। उनमें पूर्ण विश्वास कर, आँख मूंद उनके पीछे चलने के लिये तय्यार थे।" पण्डित नेहरू की इस उदारता का अनुकरण करना सर्वसाधारण जनता के लिये सम्भव नहीं था। पण्डित नेहरू जैसे सचेत और सतर्क मस्तिष्क के लिये भी सम्भव न होता यदि उन्हें यह आश्वासन न रहता कि वे या उनकी श्रेणी भारतीय समाज की मालिक श्रेणी है और अंग्रेजी शासन के हाथों से शक्ति ले लेने का अर्थ उनका अपना राज्य ही होगा। ऐसा आश्वासन किसानों, मजदूरों या मुझ जैसे लोगों को तो नहीं था!

कभी दिन में बात-चीत होने पर किसान अपनी जिन समस्याओं का जिक्र करते उनसे हमारा कोई परिचय न था। किसानों को अंग्रेजों से घृणा तो थी, उन्हें स्वराज्य से सहानुभूति भी अवश्य थी परन्तु कांग्रेस का कार्यक्रम उन्हें अनुभव होने वाली कठिनाइयों से दूर था। वे अपनी जिन कठिनाइयों और समस्याओं का बातचीत में जिक्र कर जाते वह हम कार्यकर्ताओं को छोटी और ओछी जान पड़ती थीं। कांग्रेस के महान उद्देश्य से उनका कोई सम्बन्ध नहीं मालूम होता था। किसान इस देश की जनता के ८७ प्रतिशत हैं। कांग्रेस की नीति निश्चय करने वाले नेताओं और किसानों के दृष्टिकोण दूर दूर रहे हैं। इसी अन्तर के कारण

* History of the National Congress 1935, Page 376.

किसानों की समस्याओं को वास्तविक रूप में समझने वालों ने किसान सभाओं को जन्म दिया और किसानसभा की सदस्यता लाखों तक पहुँच गई। किसानसभा ने कांग्रेस को आतंकित भी कर दिया और कांग्रेस किसान सभाओं को अपना हिंसात्मक प्रतिद्वंद्वी समझने लगी।

किसानों के सम्बन्ध में कांग्रेस का दृष्टिकोण गांधी जी ने दो मुख्य बातों से निश्चित कर दिया था:—एक तो लगानबन्दी का आन्दोलन कभी नहीं होना चाहिये और दूसरा भूमि के स्वामित्व की परम्परागत व्यवस्था में परिवर्तन से जमींदारों की मिल्कीयत पर आँच नहीं आनी चाहिये। इसका अर्थ था—किसान अपने भाग्य का निर्णायक कभी न बन सके। विपरीत इसके किसान-सभाओं का मुख्य लक्ष्य रहा है, कि किसान भाग्य का निर्णायक स्वयं बने; किसान के श्रम से जो पैदावार हो उस पर अधिकार किसान का हो, अपने भिन्न-भिन्न करों और लगानों के रूप में वह उससे छीनी न जाये। किसान को अपने परिवार का पालन करने योग्य भूमि खेती के लिये मिले, वह इस भूमि का पूरा स्वामी हो। कांग्रेस ने कभी किसानों के दृष्टिकोण को नहीं अपनाया इसलिये आज कांग्रेस का राज्य हो जाने पर भी, किसान वैसा ही पराधीन बना हुआ है।

प्रचार के इस दौरे में नित्य यही सब अनुभव करते-करते हम पैदल रास्ते मुक्तसर पहुंच गये। मुक्तसर फिरोजपुर जिले की तहसील है। यह तहसील राजपुताने की सीमा पर फैली हुई है। सीमा के कुछ प्रदेश तो बिलकुल रेगिस्तान हैं; कहीं-कहीं अच्छी खासी खेती भी होती है परन्तु केवल वर्षा के सहारे इस भाग में जल की काफ़ी कठिनाई है। कुयें कम और बहुत ही गहरे हैं, कुओं से डोल द्वारा पानी खींचना असाधारण काम है। इतनी लम्बी लाज कुएँ में पड़ती है कि उसे कुएं तक लेजाना लौटाना ही एक समस्या है। मनुष्य के सामर्थ्य के लिये यह बहुत बड़ा श्रम है। जल प्रायः बैलों द्वारा चमड़े के चरसों से ही खींचा जाता है। यह जल सभी लोग नहाने, धोने और पीने के लिये व्यवहार करते हैं। मुक्तसर व्यापारी नगर है। पंजाब की एक मशहूर मंडी है और इस भाग के व्यापार का केन्द्र है। नगर का पूरा व्यापार हिन्दू खत्रियों और मारवाड़ियों के हाथ में है। कठिन परिश्रम के सब काम निम्न-श्रेणी के मुसलमान ही करते थे। उदाहरणतः हिन्दुओं के घर में

पानी भी मुसलमान भिश्ती ही चमड़े की मशकों से भरते थे। इतना होने पर भी हिन्दू अपना छूआछूत का गर्व सुरक्षित रखे हुये थे। हिन्दू के घर में पानी भरते समय भिश्ती कमर में लाल कपड़ा बाँध लेता था, मुसलमानों के घरों में पानी भरने वाले भिश्तियों को कमर पर हरा या नीला कपड़ा बाँधना होता था। हिन्दू, जल की कमी होने पर भी स्नान का नित्य-नियम निबाहते थे परन्तु इस स्नान के लिये दो-चार लोटे से अधिक जल व्यय न होता था। मुक्तसर की तहसील के हिन्दुओं और लखनऊ, बनारस के हिन्दुओं में जनेऊ, ब्राह्मण और गाय के प्रति श्रद्धा की मानता के अतिरिक्त और कोई समता नहीं पाई जा सकती। आचार-व्यवहार, भोजन और बोलचाल में कोई भी साम्य नहीं। साम्प्रदायिक विश्वासों की समता को यदि राष्ट्रीयता और जाति की कसौटी माना जाय तो ढाका और कुस्तुन्तुनिया के सब मुसलमानों को एक ही जाति का मानना होगा किन्तु कोई भी विवेकशील व्यक्ति इससे सहमत न होगा।

मुक्तसर अच्छा खासा बड़ा कस्बा है इसलिए वहाँ प्रचार भी अधिक धूमधाम से हुआ। कस्बे के छोटे से चौक में कुछ तख्त डाल कर मंच बनाया गया और आसपास तिरपाल या बोरियां भी बिछा दी गईं, गैस की रोशनी का प्रबन्ध भी था। रेल की लाइन पर होने के कारण मुक्तसर में बहुत सी आधुनिक सुविधायें पहुँच चुकी थीं। वहाँ हाईस्कूल भी था। प्रायः पांचसौ की भीड़ भी हो गई। यह सोच कर कि मुक्तसर शिक्षित लोगों की बस्ती है और मेरी किताबी बातों की यहाँ कद्र हो सकेगी, मैंने अपने व्याख्यान में 'देश-दर्शन' के आँकड़े खूब उद्धृत किये। तिलक, मालवीय जी और पटेल की बातें भी समझाने की चेष्टा की। पण्डित तोताराम ने भी बड़े कस्बे के विचार से कुछ बड़ा ही व्याख्यान दिया और अपने व्याख्यान में ईश्वरभक्ति और धार्मिक जीवन पर विशेष बल दिया। उन्होंने हिन्दुओं के लिये 'हर-हर महादेव' और बन्देमातरम् के नारे लगाये, मुसलमानों के लिये नारा-ए-तकबीर, 'अल्ला हो अकबर' और सिखों के लिये 'जो बोले सो निहाल! सत सिरी अकाल।'

मोहम्मददीन मिरासी ने भी क़द्रदानों का मजमा देख उस दिन दिल खोलकर चुटकुले सुनाये। मोहम्मदीन प्रायः पंजाबी में ही बोलते

थे। जनता को उससे अधिक रस आता था। एकता से देश में कितनी बड़ी शक्ति पैदा हो सकती है, इस बात का उदाहरण देने के लिये उन्होंने जनता को बताया कि हिन्दुस्तान के ३२ करोड़ लोग (उस समय पूरे हिन्दुस्तान की आबादी इतनी ही बताई जाती थी) अगर एक साथ मिल कर पेशाब कर दें तो सब अंग्रेज उसमें बह जायें। इस बात पर खूब तालियाँ पिटीं। यह मोहम्मदीन के चुटकुलों का मामूली नमूना है। ओजपूर्ण पंजाबी भाषा के उनके शेष चुटकुलों का अनुवाद कर देना मामूली साहस का काम नहीं। बातचीत में मोहम्मदीन क्रान्ति का यह स्वप्न देखते थे कि क्रान्ति होने पर फिरोजपुर छावनी की सब मेमों को वे एक बारिक में बन्द कर लेंगे और"", अर्थात् वे सब उनकी पत्नियाँ हो ही जायेंगी। कांग्रेस के इस वैतनिक प्रचारक का कांग्रेस के अहिंसात्मक कार्यक्रम से कितना अनुराग था, इसका अनुमान इस एक उदाहरण से किया जा सकता है। उनके व्याख्यान में प्रायः अंग्रेजों और उनके शासन की हँसी-ठिठोली ही अधिक होती थी। उनकी बातें सुन-सुन कर श्रोताओं के पेट में बल पड़ जाते।

मुक्तसर में सभा समाप्त हो जाने पर हम लोग मंच पर ही बैठे हुये थे। कुछ श्रोता सभा में पाये आनन्द के प्रति कृतज्ञता प्रकट कर रहे थे। एक व्यक्ति ने बड़ी गहरी बात कही :—"भई, हमने बहुत लेक्चर सुने हैं। कुछ महीने पहले लाला लाजपतराय जैसे बड़े लीडर भी मुक्तसर आये थे परन्तु मोहम्मदीन के लेक्चर से बढ़ कर अभी तक नहीं सुना।" यह सम्मति सुन पहले तो मन को धक्का लगा परन्तु फिर मन को सांत्वना हुई कि यहाँ यदि मेरे लेक्चर का कुछ मूल्य नहीं पड़ता तो उसका कारण स्पष्ट है ; मेरा लेक्चर लाला लाजपतराय के लेक्चर के ढंग का है।

इस दौरे से हतोत्साह लौटा। हतोत्साह से अभिप्राय यह नहीं कि उद्देश्य के प्रति मेरी अनुरक्ति कम हो गई हो बल्कि यह कि मुझे अपना श्रम और प्रयत्न व्यर्थ जाता जान पड़ा। मैं इस दुविधा में ही था कि मैट्रिक की परीक्षा का परिणाम प्रकाशित हो गया। मेरे लिये इस परिणाम की खास बात यह थी कि मैं फर्स्ट डिवीजन में पास हुआ था और अपने स्कूल में प्रथम आया था।

मेरी माता की बहुत ही उग्र इच्छा थी कि मैं कालिज में भर्ती हो जाऊँ क्योंकि स्कूल में प्रथम आने वाले विद्यार्थी के लिये स्कूल की ओर से दो वर्ष के लिये छात्रवृत्ति मन्जूर की गई थी। फ़िरोजपुर में लगभग उसी समय एक कालिज खुला था जिसका नाम शायद 'रामसुखदास' कालिज था। अपने कालिज का आदर बढ़ाने के लिये वे होनहार विद्यार्थियों का स्वागत करते थे। मेरी मां का फ़िरोजपुर के आर्यसमाजी क्षेत्र में काफ़ी लिहाज था। उन्होंने बहुत वर्षों तक आर्यसमाज की संस्थाओं में लगन से काम किया था। छप्पन के अकाल के समय उन्होंने अनाथालय में बच्चों और लड़कियों के विभाग को जिस लगन से सँभाला था उसकी स्मृति आर्यसमाजी बुजुर्गों में शेष थी। वे उनका और उन के लड़के का भला चाहते थे। उन्होंने परामर्श दिया कि स्कूल की तरफ़ से लड़के को छात्रवृत्ति मिलेगी ही, कालिज की ओर से भी दिलाई जा सकती है। ऐसी अवस्था में लड़के की शिक्षा का तुम पर कोई बोझ नहीं पड़ेगा। केवल मैट्रिक पास आदमी की क्या कद्र होती है ?

मां ने एक प्रकार से सत्याग्रह आरम्भ कर दिया। वे मेरा जीवन बरबाद होता नहीं देखना चाहती थीं। मुझे कुछ बना सकना ही उनके जीवन की महात्वाकांक्षा थी। समझाने वालों ने यह भी समझाया कि शिक्षा से असहयोग करना बुद्धिमानी नहीं। जिन हज़ारों विद्यार्थियों ने कांग्रेस की पुकार पर असहयोग किया था उनमें से अधिकांश अपनी भूल समझ कर अपना भविष्य बरबाद होने से बचाने के लिये संस्थाओं में लौट चुके थे। मुझे भी समझाया जा रहा था कि आज नहीं तो कल तुम अपनी भूल समझोगे लेकिन उस समय छात्रवृत्ति की सुविधा नहीं रहेगी।

हज़ारों विद्यार्थियों के वापस कालेजों में लौट जाने की घटना का भी मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा परन्तु दूसरे ही रूप में। विद्यार्थियों के अपनी प्रतिज्ञा पर जमे न रहने को मैंने अपना राष्ट्रीय अपमान समझा। मैं असहयोग करके तो नहीं आया था परन्तु सहयोग करने के लिये भी तैयार नहीं था, भविष्य चाहे बने या बिगड़े।

कांग्रेस के काम में दो महीने रह कर ही मेरी मां उससे विरक्त हो गईं। उन्हें उस में कुछ सार नहीं दिखाई दे रहा था और बिना कुछ

किये तनखा लेते रहने में उन्हें ग्लानि होती थी। वे पुरानी नौकरी पर लौट गईं। गांधी जी की आज्ञा से आन्दोलन स्थगित हो जाने के कारण कांग्रेस के दफ्तर में कुछ हो भी न रहा था। कांग्रेस का जो कुछ संगठन शेष था, सरकार उसे भी निर्मूल कर देने पर तुली हुई थी। कृष्णदास जी भल्ला भी गिरफ्तार हो गये। उनके स्थान पर आ गये थे एक सज्जन रामकृष्ण। मैं निरन्तर सोच रहा था कि क्या करूँ? बहुत सोच-सोच कर निश्चय किया कि अपनी जिम्मेवारी पर कुछ कर सकने की योग्यता मुझ में नहीं है।

मैंने अपनी माता के सम्मुख प्रस्ताव रखा कि मैं सरकारी कालेज में तो किसी हालत में जाने को तैयार नहीं; यदि मुझे पढ़ाना चाहती हो तो लाहौर के 'नेशनल कालिज' में भरती हो सकता हूँ। 'नेशनल कालिज' की शिक्षा व्यवसायिक दृष्टि से उपयोगी नहीं थी। मां को उसके लिये अधिक उत्साह भी नहीं था। उनकी इच्छा थी कि मैं वकील ही बनूँ। 'नेशनल कालिज' की शिक्षा पाने के लिये किसी प्रकार की छात्रवृत्ति या आर्थिक सहायता की आशा भी नहीं की जा सकती थी। मां ने अपनी पिछले तीस वर्ष की नौकरी में कुछ न कुछ बचा ही रखा था। जब उन्होंने देखा कि मैं और कहीं पढ़ने के लिये तैयार नहीं तो उन्होंने मुझे इस शर्त पर नेशनल कालिज में भर्ती हो जाने की अनुमति दे दी कि जितने दिन वे खर्च दे सकेंगी देंगी, शेष मैं जानूं। मन में भरोसा था कि परीश्रम के लिये तैयार हूँ तो कोई उपाय निकल ही आयगा।

२

नेशनल कालिज

पंजाब 'नेशनल कालेज' के वातावरण में राजनैतिक प्रवृत्तियों को छिपाने की आवश्यकता नहीं थी। इस कालिज की स्थापना का उद्देश्य ही कांग्रेस के कार्यक्रम द्वारा स्वराज्य प्राप्ति के लिये काम करने वाले योग्य कार्यकर्त्ता तैयार करना था परन्तु सभी विद्यार्थियों ने कांग्रेस के कार्य में जीवन उत्सर्ग करने की प्रतिज्ञा कर ली हो, यह बात भी नहीं थी। वातावरण सरकारी यूनिवर्सिटी के कालिजों से भिन्न था। दूसरे कालेजों में साधारणतः शिक्षा पाने और परीक्षा पास करने का उद्देश्य कल्पना में निश्चित कोई नौकरी पाना रहता है। नेशनल कालेज में यह बात नहीं थी। वहाँ शिक्षा का उद्देश्य साधारणतः अध्ययन ही था। शौक और फैशन की वैसी लगन और प्रतिद्वंद्विता नहीं थी जैसी की दूसरे कालेजों में रहती है। इस विषय में दृष्टिकोण सामान्य था। विद्यार्थी प्रायः बिना टीमटाम के ही रहते थे। खद्दर की ओर प्रवृत्ति जरूर थी परन्तु मशीन का कपड़ा भी चल जाता। 'गांधी आश्रम' जैसी प्रवृत्ति नहीं थी, अर्थात् कम से कम कपड़ों से निर्वाह करने, सब काम अपने हाथ से करने और भोजन में बगैर पके शाक खाने को महत्व नहीं दिया जाता था। 'प्रार्थना' और 'संध्या' के लिये कोई अनुशासन नहीं था।

कालिज के अधिकांश विद्यार्थी पंजाब के भिन्न-भिन्न जिलों से आये हुये थे और बोर्डिंग में ही रहते थे। कुछ विद्यार्थी युक्तप्रान्त के भी थे। आरम्भ में विद्यार्थियों की संख्या तीन-सौ तक थी। कक्षायें केवल मैट्रिक से ऊपर बी० ए० तक ही थीं। रोहतक-हिसार के विद्यार्थियों का एक दल अलग-थलग दिखाई देता था। अनुपात के ख़याल से रोहतक-हिसार

दल के विद्यार्थियों की संख्या काफ़ी अधिक थी। यह दल अपनी वेश-भूषा और रहन-सहन के ढंग के कारण दूसरों से मेल न खा कर अलग दिखाई देता था। इन लोगों के कपड़े अधिकांश में घर के मोटे खद्दर के थे। ढीला ढाला कुर्ता, अढ़ाई गजी धोती और सिर पर छोटी सी खद्दर की पगड़ी या गांधी टोपी, पांवों में प्रायः देशी जूता। कपड़े इनके प्रायः धोबी के यहाँ नहीं जाते थे। कपड़े धो लेने के लिये भी विशेष सतर्कता नहीं थी। भोजन के लिये इन लोगों ने अपना लंगर भी अलग बना लिया था और मितव्ययता के विचार से केवल दाल-रोटी या रोटी-तरकारी ही बनती थी। घी यह लोग अपने घर गाँव से एक-एक कनस्टर ले आते, खूब घी खाते और कसरत करते। रोहतक-हिसार दल कालिज के बोर्डिंग 'शीशमहल' में नहीं रहता था। शीशमहल का बंगला बोर्डिंग के लिये किराये पर लिया गया था। विद्यार्थियों को बोर्डिंग की फ़ीस देनी पड़ती थी। यह लोग बोर्डिंग में न रह कर 'ब्रैडला हाल' के नीचे बने हुये गोदाम में बिना फीस या किराया दिये रहते थे। इन लोगों की कालिज की फ़ीस भी माफ़ थी।

नेशनल कालेज में रोहतक-हिसार के विद्यार्थियों का दल भाई परमानन्द जी की प्रेरणा से इकट्ठा हुआ था। भाई जी का देहान्त अभी कुछ वर्ष पूर्व हिन्दू महासभा के प्रमुख नेता के रूप में हो गया है। एक समय वे क्रान्तिकारी होने के कारण काले पानी गये थे। तब उन्हें काले पानी से लौटे दो-एक वर्ष ही बीते थे। वे क्रियात्मक राजनीति में कोई भाग न लेकर पढ़ने-लिखने में ही लगे रहते। हमारा अनुमान था कि वे उपयुक्त राजनैतिक अवसर की प्रतीक्षा में हैं। एक प्रकार से वे ही लाला लाजपतराय जी की ओर से नेशनल कालेज के व्यवस्थापक थे।

भाई जी स्वयं बहुत सादा जीवन व्यतीत करते थे। साधारणतः उनकी पोशाक कुर्त्ता और धोती ही थी। कुर्त्ता-धोती कह देने से पंजाब से बाहर के लोगों को सादगी का कोई अनुमान नहीं हो सकता। पंजाब से बाहर के प्रान्तों में बड़े-बड़े रईसों और जमींदारों की पोशाक कुर्ता—धोती ही है परन्तु कुर्ता-धोती के अलग अलग रूप हैं। कुर्ता-धोती पहनने का ऐसा भी ढंग है जो साधारण कोट-पतलून पहनने के ढंग से अधिक खर्चीला होता है। पंजाब से बाहर के प्रान्तों में कुर्ता-धोती पर निर्भर करने वाले व्यक्ति की सादगी की ओर ध्यान नहीं जाता

परन्तु पंजाब में, खास कर लाहौर में कुर्ता-धोती पहनने वाले व्यक्ति की ओर ध्यान आकर्षित होना आवश्यक था। पंजाब में साधारणतः शिक्षित मध्य वर्ग के लोग कमीज, पायजामा, कोट पगड़ी या टोपी आवश्यक समझते थे। कालेजों में धोती पहन कर या बिना कोट पहने जाने से अनुशासन भंग समझा जाता था। भाई परमानन्द जी की स्थिति के व्यक्ति का केवल कुर्ता-धोती पहनना और वह भी मोटे और घर के धोये, बिना इस्त्री किये, विशेष ध्यान आकर्षित करता था। उन्हें साधारणतः लोग त्यागमूर्ति भाई परमानन्द जी कहते थे।

रोहतक-हिसार के विद्यार्थियों की इस सादगी के कारण भाई परमानन्द जी को उनसे बहुत आशाएँ थीं। भाई जी की धारणा थी कि अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखने वाले और बाबूपने के शौक से दूर विद्यार्थी ही देश के लिये कुछ कर सकेंगे। भाई जी की वह आशा फलवती न हुई। इनमें से किसी भी विद्यार्थी ने बाद में न तो कांग्रेस के ही आन्दोलन में और न क्रान्तिकारी आन्दोलन में विशेष भाग लिया। यह सब लोग अपने गाँवों में लौट या तो स्कूल मास्टरी करने लगे या व्यापारिक धन्धों में लग गये। इनमें से दो-तीन विद्यार्थी आरम्भ में हमारे दल में आये जरूर थे परन्तु शीघ्र ही अलग हो गये।

भाई परमानन्द जी को पायजामा और कोट पहनने वाले विद्यार्थियों के प्रति खासी वितृष्णा थी। जो विद्यार्थी जुल्फें रख तेल और कंघी का व्यवहार करते थे, उन्हें तो वे बिलकुल जनखा ही समझते थे। वे कालेज में इतिहास पढ़ाते थे और साधारणतः विद्यार्थियों में राष्ट्रीय काम की भावना को उत्साहित भी करते रहते। जिनमें ऐसी रुचि देखते उन्हें प्रोत्साहित भी करते। यदि किसी ऐसे विद्यार्थी का नाम उन्हें सुझाया जाता जो धोबी के धुले साफ कपड़े पहनने का शौक रखता हो, तो वे उसकी ओर से तुरन्त ही निराशा प्रकट कर देते। मैं इस बात का उल्लेख इसलिये कर रहा हूँ कि मैं कुछ समय तक उनकी इस विरक्ति का शिकार रह चुका हूँ। कालेज के प्रिंसिपल, आजकल उत्तर प्रदेश की कांग्रेस के प्रधान, आचार्य जुगलकिशोर जी थे। आचार्य जी कुछ ही समय पहले इंगलैंड से शिक्षा के लिये कई बरस रह कर लौटे थे। उस समय उन्हें हिन्दुस्तानी की अपेक्षा अंग्रेजी बोलने में ही अधिक सुविधा होती थी। कालेज में शिक्षा का माध्यम मिली-जुली हिन्दुस्तानी और अंग्रेजी था।

पुस्तकें सब अंग्रेजी में ही थीं परन्तु अध्यापक लोग हिन्दुस्तानी में भी समझाने की चेष्टा करते थे, केवल आचार्य जी और प्रोफेसर पी० सी० मेहता हिन्दुस्तानी नहीं बोल पाते थे। आचार्य जी का दृष्टिकोण मुख्यतः अध्ययन को प्रोत्साहन देने का ही था। उन्होंने कालेज में गांधी-आश्रम की पद्धति को लागू करने का यत्न नहीं किया। वे प्रायः कालेज के वादविवाद सभाओं में उपस्थित रहते और ऐसे अवसर पर विद्यार्थियों के अध्ययन को उचित धाराओं की ओर प्रेरित करने की चेष्टा भी करते।

कालेज के प्रोफेसरों की विचारधारा का प्रभाव विद्यार्थियों के विचारों पर काफी पड़ा। इनमें प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकर का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। जयचन्द्र जी प्रायः ही विद्यार्थियों की तर्क और जिज्ञासा की प्रकृति को उकसाते रहते थे। वे भारतीय इतिहास और राजनीति के अध्यापक थे। उनकी चेष्टा रहती थी कि विद्यार्थी इतिहास को श्रुति और स्मृति मान कर केवल विश्वास द्वारा ही न अपनाते चले जाएँ बल्कि तर्क और खोज के दृष्टिकोण से अध्ययन करें। उनकी कक्षा में अनेक प्रकार के विषयान्तरों पर भी वाद-विवाद हो जाता था, जैसे आस्तिकता-नास्तिकता, आत्मावाद और भौतिकवाद। उनका दृष्टिकोण विद्यार्थियों को बहुत ही सुलझा हुआ जान पड़ता था। इसलिये जिज्ञासु और अध्ययनशील विद्यार्थियों का एक गिरोह उनके चारों ओर इकट्ठा होने लगा जिसे भविष्य में तैयार हो जाने वाले क्रान्तिकारी दल की पृष्ठभूमि कहा जा सकता है। उस गिरोह में से अधिकांश विद्यार्थी छूट गये और कुछ नये भी आ मिले।

नेशनल कालिज में अधिकांश विद्यार्थी राजनीति, अर्थशास्त्र और इतिहास की शिक्षा ले रहे थे। यों फारसी और संस्कृत भी पढ़ाई जाती थी। फारसी पढ़ने वाले केवल दो या तीन विद्यार्थी थे और संस्कृत पढ़ने वाले पांच या छः। कुछ पाठकों को यह जान कर आश्चर्य होगा कि भगतसिंह संस्कृत पढ़ता था। संस्कृत में भगतसिंह की रुचि का कारण उस समय बहुत हद तक उसके परिवार की आर्यसमाजी रुचि समझी जा सकती है और कुछ हद तक साहित्य की ओर उसकी प्रवृत्ति। भगतसिंह शहर में अपने पिता के साथ ही रहता था। मैं सुखदेव, झंडासिंह आदि शीशमहल बोर्डिंग हाउस में थे। पढ़ने-लिखने के सिवाय हम

उम्र के कालिज के लड़कों में दंगे और शरारत की ओर जो प्रवृति होती है, उसकी हम लोगों में भी कमी नहीं थी ।

सुखदेव

सुखदेव, मैं और सुखदेव का भाई जयदेव थापर एक ही कमरे में रहते थे । मैं और जयदेव प्रायः बहुत रात गये तक पढ़ते रहते । केवल कालिज की पाठ्य पुस्तकों का ही नहीं, दूसरी पुस्तकों का भी हमें चाव था । सुखदेव को शौकिया बहुत देर पढ़ते कभी नहीं देखा । पढ़ लिया, पढ़ लिया, न पढ़ा न सही ।

सुखदेव लायलपुर से आया था लायलपुर में उसके घर आढ़त का कारोबार था । सुखदेव के बचपन में ही उसके पिता का देहान्त हो चुका था । उसके ताऊ लाला अचिंतराम जी थापर कांग्रेस के स्थानीय उग्र नेताओं में से थे । वे १९२० के असहयोग आन्दोलन में भी जेल गये थे । अचिन्तराम जी की उस समय की एक फोटो, जिसमें वे कैदी की वर्दी और हथकड़ी पहने हुये थे, सुखदेव की मेज पर रखी रहती थी । सुखदेव और जयदेव चचेरे भाई थे । दोनों ही मेट्रिक पास करने के बाद १९२२ में असहयोग आन्दोलन की गर्मी निकल जाने पर भी नेशनल कालिज में आये थे ।

मैं ऊपर ही कह आया हूँ कि सुखदेव को पढ़ने का व्यसन नहीं था परन्तु चुपचाप सोचते रहना उसकी आदत थी । एक ही कमरे में साथ-साथ रहने के कारण मैं उसकी और वह मेरी प्रवृत्तियों से खूब परिचित था । उसके स्वभाव का विशेष लक्षण झोंक"""था ; जब जिस बात की झोंक आ जाय । कुछ दिन स्वास्थ्य सुधारने और शरीर मजबूत बनाने की झोंक आ गई तो पढ़ने-बढ़ने का सब खयाल छोड़ वह नित्य मालिश और कसरत करने लगा । एक कुर्ता भी पहलवानी ढंग का सिला लिया और कमर में पहलवानों की तरह तहमत या लुंगी बाँधनी शुरू कर दी । शरीर मामूली मेरे जैसा इकहरा होने पर भी बाँहों को ऐसे अकड़ा कर चलता मानों पुट्ठों के बहुत उभरे रहने के कारण बाहें पसलियों से दूर-दूर रहती हों । शारीरिक कमजोरी से उसे विशेष घृणा थी । कभी-कभी स्वयं अपनी ही कमज़ोरी का उपहास करने के लिये कहानी सुनाने लगता—"हमारे पिता, चाचा और ताऊ सब मिला

कर नौ भाई-बहिन थे। उनमें से एक को पलने में सोये-सोये ही चूहे खा गये ....।" इतना सुना कहकहा लगा कर अपने पुट्ठों को सहलाते हुये वह कहता—"जिसे चूहे खा जायें, वह चूहों से बढ़ कर क्या होगा ?" और अन्त में इस परिणाम पर पहुँचना कि—"हम चूहों की औलाद हैं तो चूहों से बढ़ कर क्या होंगे ?" जिन दिनों कसरत और पहलवानी का शौक चढ़ा उसने सिर पर उस्तरा फिरवा लिया। कुछ दिन बाद शौक बदला तो फिर लट्ठे का सफेद पायजामा, रंगीन कमीज पहननी शुरू कर दी। सिर पर घुंघराले बालों में कंघी भी होने लगी और खूब पालिश किया ग्लेसकिड का जूता पांवों में चमकने लगा।

प्रायः झोंक की प्रवृत्ति को ही हम विचारों की स्वतंत्रता समझ बैठते हैं। सुखदेव इस बात का अच्छा खासा उदाहरण था। उसकी यह प्रवृत्ति फाँसी के समय तक प्रकट होती रही। विचार स्वतंत्रता का अर्थ है अनुभव और जानकारी के आधार पर स्वतंत्रता से तर्क करना और विचारों को विकसित होने देना और उससे मार्ग निश्चय करना। विचार और तर्क के आधार के लिये अनुभव और जानकारी आवश्यक हैं। मनुष्य के अपने अनुभवों का क्षेत्र सीमित ही रहता है। अध्ययन के साधन से हम दूसरों के अनुभवों का उपयोग कर अपनी जानकारी बढ़ा सकते हैं, उन से लाभ उठा सकते हैं। दूसरे लोगों द्वारा किये गये तर्क का सहारा ले कर अपने तर्क और विवेचना को आगे बढ़ा सकते हैं। भौतिक और सामाजिक वास्तविकताओं के ज्ञान के बिना तर्क और विचार के लिये कोई आधार नहीं हो सकता। व्यक्ति या तो देख सुन कर या पढ़ कर ही अपने ज्ञान की सीमाओं को विस्तृत कर सकता है, तभी उसका विचार और तर्क उपयोगी हो सकता है। जब व्यक्ति वास्तविकता और यथार्थ के आधार के बिना विचार और तर्क करने की चेष्टा करता है, उसका विचार केवल कल्पना ही बन जाता है। जब हम अपने तर्क को अनुभव और परिस्थितियों की कसौटी से आँके बिना और उन्हें परिस्थितियों के अनुकूल तर्कसंगत बनाये बिना, निराधार तर्क के अनुसार ही चलने की जिद्द करते हैं वह झोंक बन जाती है। उदाहरण सुखदेव के रोजमर्रा के जीवन से बीसियों मिलते हैं। उदाहरणतः कभी संध्या समय बाजार जाते हुए वह अपने कुर्ता-लुंगी के पहलवानी वेश में ही चल पड़ता। साथी अनुरोध करते कि भले

आदमियों की तरह कपड़े पहन ले। यह अनुरोध मान लेने के बजाय वह साथ से हट कर अलग-अलग चलने के लिये तैयार हो जाता। इस व्यवहार को वह अपनी विचार स्वतंत्रता समझता था। एक उदाहरण मुझे याद है, हम लोग अनारकली बाजार से चले आ रहे थे। समीप से फूल-गजरे बेचने वाला आदमी पुकार लगाता हुआ 'गुजरा। बेला के फूलों की महक अनुभव हुई। सुखदेव ने रुक कर एक गजरा ले लिया। यही क्या कम था? जगह-जगह का रिवाज़ होता है, लाहौर के समाज में किसी व्यक्ति के हाथ में गजरा लटकाये चलना गुँडापन ही समझा जाता। सुखदेव ने वह गजरा गले में पहन भी लिया। इतना ही नहीं; कुछ और कदम चल गजरे के लटकते छोर को उठा कर नाक पर रख लिया ताकि उसकी पूरी सुगंध का आनन्द ले सके।

इस नाटक से साथ चलते साथियों को संकोच होना स्वाभाविक था। उसकी ओर देख कर मुस्कराने वाले हमें भी तो लक्ष्य करते। धीमे स्वर में समझाया—"कुछ ख़याल करो; जरा भले आदमियों की तरह चलो।"

"मैं जैसे चाहूँगा, चलूँगा। तुम्हें अच्छा न लगता हो, परे हट जाओ!"—आपने जवाब दिया। चुप रह जाने के सिवा चारा क्या था? व्यक्तिगत स्वतंत्रता की बात करते समय यह बात प्रायः भुला दी जाती है कि हमारी या आपकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता दूसरों के भावों और हित पर तो आघात नहीं कर रही। हमारा अस्तित्व समाज के बिना सम्भव नहीं तो हमारी व्यक्तिगत स्वतंत्रता भी दूसरों के हित और सन्तोष से अवश्य सीमित होगी।

सुखदेव दूसरों के उदाहरण से कुछ सीखने में कम ही विश्वास रखता था। यह बात उसके जीवन की एक मामूली घटना से बहुत स्पष्ट हो जाती है। पहलवानी की झोंक के दिनों में सुखदेव ने 'जुजुत्सु' की किसी किताब में पढ़ा था कि झगड़े या मारपीट के समय अपने से बहुत अधिक बलवान व्यक्ति से मुकाबला पड़ जाने पर आत्मरक्षा और प्रतिद्वंदी को परास्त कर देने का उपाय उसकी नाक पर जोर से घूंसा मार देना है। ऐसे आघात से कोई भी व्यक्ति सुधबुध खो कर बेकाम हो जायगा। साधारणतः यह नुस्खा पढ़ कर विश्वास कर लेना काफ़ी होना चाहिये परन्तु सुखदेव ने इसे परखना आवश्यक समझा।

उन दिनों गांधी जी ने प्रत्येक मास की १८ तारीख उपवास के लिये निश्चित की हुई थी। सुखदेव यह उपवास रखता था। उपवास किये हुये वह अकेला ही किसी काम से सड़क पर चला जा रहा था। 'जुजुत्सु' की किताब में पढ़ी हुई बात उसे याद आ गई। वह किसी कद्दावर, बलवान दिखाई देने वाले व्यक्ति को खोजने लगा। ऐसा एक आदमी दिखाई भी दे गया। उसके समीप पहुँच उसकी बे खबरी में सुखदेव ने उसकी नाक पर घूंसा जमा दिया और चोट का प्रभाव देखने के लिये समीप ही खड़ा रहा।

चोट खाने वाला आदमी सचमुच अपने चेहरे को दोनों हाथों में सम्भाल सड़क पर बैठ गया और काफी देर बैठा रहा। इस बीच सुखदेव फरलांग दो फरलांग दूर दौड़ जाता परन्तु वह तो अपने परीक्षण का प्रभाव देखने पर तुला था, समीप ही खड़ा रहा। कुछ देर बाद उस व्यक्ति ने होश सँभाला और अपने ऊपर अकारण आघात करने वाले व्यक्ति को अपनी अवस्था पर ग़ौर करते पाया। ऐसी अवस्था में चोट खाने वाले ने वही किया जिसकी किसी भी सामान्य व्यक्ति से आशा की जानी चाहिये। उसे अपनी ओर लपकते देख सुखदेव बचने के लिये भागा। एक तो सुखदेव उपवास के कारण सुबह से भूखा और कमजोर था तिस पर उसके इस परीक्षण का पात्र उससे अढ़ाई गुना बलवान। सुखदेव काबू आ गया और उस मार पड़ने लगी। वह असहाय हो मार खाने के लिये बैठ गया। आते-जाते आदमियों ने बीच बचाव कर उसे छुड़ाया। पूछा गया कि आखिर तुमने पहले मारा क्यों? सुखदेव का उत्तर था—"मैंने मारा था। अब तुम मार लो।" अस्तु, इस परीक्षा से सुखदेव को नाक पर घूंसे के फल का उचित अंदाज तो हो गया।

एक बार सुखदेव को अपनी सहनशक्ति आजमाने का ही ख़याल आ गया। लायलपुर से लाहौर लौट रहा था। तीसरे दर्जे का टिकट था। गाड़ी के एक डिब्बे में सिपाही भरे थे; किसी दूसरे मुसाफिर को घुसने न देते थे। सुखदेव जबर्दस्ती घुस गया। सिपाहियों ने धमकाया। सुखदेव ने धमकी का जवाब अपने बैठने के अधिकार पर जोर दे कर दिया और चुनौती दे दी—"मैं बैठता हूँ; हिम्मत है तो मुझे निकालो!"

जिस साम्राज्यशाही का विस्तार सूर्य की दौड़ से भी अधिक फैला

हुआ था उसके सिपाही अपनी हिम्मत को चुनौती कैसे सह जाते ? उन्होंने सुखदेव को अपने फौजी बूटों और घूंसों से खूब पीटा। सुखदेव बैठा मार खाता रहा। न उसने प्रतिकार में हाथ उठाया, न किसी को पुकारा। सिपाहियों ने उसे उठा कर प्लेट फार्म पर पटक दिया। सुखदेव उस गाड़ी से रह गया। लाहौर पहुंचा तो उसका शरीर खूब सूजा हुआ था। उसने अपना यह अनुभव हमें सुनाया और फिर इस बात की विवेचना करता रहा कि उद्देश्य की पूर्ति में सत्याग्रह का मार्ग कैसे सफल हो सकता है ? हम इस दार्शनिक तत्व पर पहुँचे कि यदि भय और आत्मरक्षा की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक है तो आत्महनन को सत्याग्रह का नाम दे कर लक्ष्य बना लेना जरूर अस्वाभाविक है। कुछ गिने-चुने आदमियों से ही अस्वभाविक और असाधारण मार्ग पर निष्ठा से चल सकने की आशा की जा सकती है। वह भी तब जब कि उन्हें जनता के से आदर और सहानुभूति का बल प्राप्त हो! मेरा विचार है कि स्वयं गांधी जी का भी यही मत था; जब-जब भी उन्होंने सामूहिक सत्याग्रह आरम्भ किया उसे अक्रियात्मक देख सत्याग्रह के आन्दोलन को व्यक्तिगत अर्थात् केवल कुछ चुने लोगों का आन्दोलन बना देना पड़ा।

इस समय तक हम लोगों के दल के संगठन की कोई रूपरेखा निश्चित नहीं हो पायी थी। इसलिये सुखदेव के दल सम्बन्धी किसी काम का जिक्र प्रासंगिक नहीं। अलबत्ता, इतना जरूर कहा जा सकता है कि सुखदेव की उपरोक्त मनोवृत्तियाँ बिना किसी परिमार्जन के ही दल के कार्यों में भी प्रतिबिंबित होती रहीं जिसके कारण वह कई असंगत बातें कर बैठा और दूसरों के लिये विकट असंतोष का कारण भी बन गया। सुखदेव के सम्बन्ध में यह बात कहते लिखते समय बड़प्पन नहीं व्यथा अनुभव होती है। जान पड़ता है अपनी लज्जा की बात कह रहा हूँ। सुखदेव से मुझे बहुत ममता थी। मुझे ही क्या; उसमें कुछ अपने ही ढंग की तटस्थता और सहिष्णुता के साथ ही झोंक भी थी। भगतसिंह, झंडासिंह सभी को उससे ममता थी। उसे किसी से थी या नहीं; वही जाने! और वह भी समय आया कि मैंने ही उसे पार्टी की ओर से गोली मार देने का भी निश्चय कर लिया था। यह समाचार पाकर भी उसने तटस्थ ही उत्तर मुझे लिखा था। इसका ब्योरा यथा स्थान लिख कर उत्तर भी उद्धृत करूँगा। यहां सुखदेव की चर्चा

ऐसे कर रहा हूँ जैसे इलाज के लिये अपनी बीमारी बता देना ही उचित होता है ।

इन दिनों भगतसिंह का व्यवहार कैसा था, यह मैं भगतसिंह के आरम्भिक परिचय में ही कह चुका हूं । वह मैट्रिक पास किये बिना और काफी समय गुरुद्वारा आन्दोलन वगैरह में लगा कर हमारा सह-पाठी बना था । इस कारण वह पढ़ाई में, खास कर पाठ्यक्रम में, दूसरे साथियों से अपने आपको कुछ पीछे अनुभव कर रहा था । कक्षा में प्रोफ़ेसरों से उसे डाँट-फटकार भी काफी सुननी पड़ती थी । भगतसिंह के स्वभाव में सबसे बड़ी बात समय और परिस्थिति के अनु-कूल सट जाने की थी । पढ़ाई की अपनी कमी को पूरा करने के लिये वह विशेष यत्न कर रहा था परन्तु कक्षा में हम लोग यदि गुट बांध कर कोई शरारत करते तो वह पीछे नहीं रहता था । यह शरारतें अधिक-तर होती थीं हमें भारतीय इतिहास पढ़ाने वाले प्रोफ़ेसर सोंधी और प्रोफ़ेसर मेहता की अंग्रेजी की कक्षा में । प्रोफ़ेसर सोंधी कुछ औंधाते-औंधाते अपना लेक्चर देते थे । कोई भी सवाल कर देने पर उलझ बैठते—"तुम लिंक आफ़ थौट को डिस्टर्ब कर देते हो ।" उनका एक बार यह कहना था कि हम लोग अप्रासंगिक प्रश्नों की झड़ी लगा देते । परिणाम होता कि सोंधी साहब कक्षा छोड़ देते और हम लोग दंगे के लिये बाहर निकल जाते । प्रोफ़ेसर मेहता पढ़ाते बहुत लगन से थे परन्तु उनका हिन्दुस्तानी का ज्ञान बहुत परिमित था, हिन्दुस्तानी शब्दों का उच्चारण और भी विचित्र । किसी भी शब्द का हिन्दुस्तानी पर्यायवाची शब्द उनसे पूछ लेना मजाक आरम्भ करने के लिये काफी था और फिर ठेठ पंजाबी का कोई ऊटपटाँग शब्द उन्हें सुझा देना । दूसरे विद्यार्थियों के खिलखिला पड़ने पर मेहता साहब परेशान हो जाते और सब से पहले झंडासिंह की ओर संकेत कर हुक्म दे देते—"गेट आउट आफ़ दि क्लास ।" उसके बाद मेरी बारी आती फिर सुखदेव की फिर भगत-सिंह की और दूसरे दो-एक साथियों की ।

पंडित चेतराम जी शर्मा हमारे हिन्दी के पहले अध्यापक थे और संगीत के विशेष अनुरागी । पंडित जी बहुत ही गम्भीर थे और छन्दों की व्याख्या करते समय उनके मात्रा और अनुपात इत्यादि को प्रायः संगीत के क्रियात्मक प्रदर्शन से समझाने की चेष्टा करते । पंडित जी का

संगीत ज्ञान गहरा होने पर भी कण्ठ काफी बोझल था। हम लोग संगीत की शुद्धता क्या जानें ? हँसी रोकना कठिन हो जाता परन्तु पंडित जी की शिष्टता का लिहाज इतना था कि अपने ऊपर जब्र करना पड़ता।

प्रोफेसर जयचन्द जी विद्यालंकार की कक्षा में किसी भी शरारत के लिये अवसर नहीं रहता था। उनकी बात की उपेक्षा करने में अपना ही नुकसान था। कोई भी बेतुका प्रश्न सुन जयचन्द जी एक क्षण के लिये चुप हो जाते और फिर प्रश्नकर्ता से आँखें मिला पूछ लेते-"प्रस्तुत विषय से इसका क्या सम्बन्ध है ?" इसलिये कोई वास्तविक समस्या होने पर ही प्रश्न किये जाते थे। जयचन्द्र जी का पाठ्य विषय तो राजनैतिक सिद्धान्त और शासन-व्यवस्था सम्बन्धी ऐतिहासिक विश्लेषण था परन्तु बातचीत प्रायः २०-२१ के सत्याग्रह-आन्दोलन पर भी चल जाती और विद्यार्थी उसकी विफलता पर मनन किये बिना न रह सकते। अपने देश के लिये स्वतंत्रता प्राप्ति की लगन मन में रखने वाले विद्यार्थियों के लिये इस मनन का एक ही परिणाम हो सकता था कि वे अपनी राजनैतिक समस्या के समाधान का कोई दूसरा मार्ग सोचें।

सत्याग्रह-आन्दोलन की विफलता के अनुभव और दूसरे मार्ग की खोज के समय हम लोगों के हाथ कौन सा साहित्य पड़ा ? डैनब्रीन की—"माई फाइट फार आइरिश फ्रीडम," मैजिनी और गैरीबाल्डी की जीवनियां, फ्रांसीसी क्रान्ति का इतिहास, वोल्तेर और रूसो के रूढ़ीवाद विरोधी क्रान्तिकारी विचार, रूसी क्रान्तिकारियों की जीवनियां, 'वीराफिगनर' 'क्रौपोटकिन' आदि और इसके साथ-साथ भारत में सत्याग्रह से भिन्न देश की स्वतंत्रता के लिये किये गये प्रयत्नों का परिचय जिनमें सान्याल दादा की आप बीती 'बन्दी जीवन' प्राथमिक पुस्तक के रूप में थी और फिर 'रौलेट कमेटी की रिपोर्ट।'

रौलेट कमेटी ने अपनी रिपोर्ट रौलेट बिल बनाया जाने की आवश्यकता प्रमाणित करने के लिये लिखी थी। इसमें भारत में हुये सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टा के प्रयत्नों का काफी ब्योरेवार वर्णन है। रिपोर्ट इन प्रयत्नों को अपराध प्रमाणित करने के लिये लिखी गई थी परन्तु लेखकों का दृष्टिकोण ऐतिहासिक था वास्तविकता का यथासम्भव यथार्थ (Objective) चित्रण करना रहा है। इस पुस्तक को पढ़ कर हम लोगों पर यह प्रभाव नहीं पड़ा कि भारतीय क्रान्तिकारी अपराधी थे।

हम इस परिणाम पर पहुँचे कि उन्होंने अपनी परिस्थितियों में एक स्वाभाविक मार्ग का अवलम्बन किया था और उस प्रयत्न के लिये संभावना का बहुत विस्तृत क्षेत्र है।

यह याद नहीं कि किस साथी ने इन पुस्तकों को पढ़ने की बात मुझे सुझाई। इनमें से अधिकांश पुस्तकें तो कालिज के छोटे से पुस्तकालय में ही थीं। शेष कहाँ से कैसे आ गईं, यह अब याद नहीं और उस समय इसकी खोज करने की आवश्यकता भी अनुभव न हुई थी। यह नहीं कहा जा सकता कि इन पुस्तकों को हम कुछ लोग ही, भगतसिंह और सुखदेव जैसे ही पढ़ते हों। सभी विद्यार्थी इन पुस्तकों को पढ़ते थे।

उन दिनों की एक छोटी सी बात याद है। मेरे किसी सहपाठी ने संदेश दिया कि जयचन्द्र जी ने मुझे अपने मकान पर मिलने के लिये याद किया है। जयचन्द्र जी ने मुझसे प्रश्न किया—"तुम्हारे जीवन का भविष्य कार्यक्रम क्या है ?"

सम्भवतः उत्तर दिया था:—"अभी क्या कह सकता हूँ ? अभी तो मैं अध्ययन ही कर रहा हूँ।"

पंडित जी ने फिर प्रश्न किया —"अध्ययन करने के लिये तो तुम सरकारी यूनिवर्सिटी के कालेज में भी जा सकते थे। इस कालेज में आने का खास प्रयोजन क्या है ? इस कालेज से डिग्री पा लेने पर साधारणतः जीविका के सम्बन्ध में कोई सुविधा नहीं हो सकती हां, सरकारी नौकरी के लिये मार्ग बन्द हो जायगा। अध्ययन का प्रयोजन क्या है ?"

"सरकारी नौकरी का द्वार बन्द हो जायगा यह तो मैं जानता हूँ ! सरकारी नौकरी का सीधा अर्थ है अपनी जीविका के लिये सरकार को सहयोग देना। मेरा निश्चय है कि मैं विदेशी सरकार को किसी भी प्रकार का सहयोग नहीं दूंगा क्योंकि मैं अपने देश में विदेशी शासन जमाये रखने के पक्ष में नहीं हूं।" मैंने उत्तर दिया।

इसके बाद शायद पंडित जी ने पूछा कि तुम विदेशी सरकार को अपने देश से हटा देना चाहते हो तो उसके लिये क्या करना चाहते हो ? या इससे मिलती-जुलती बात।

मेरे उत्तर का अभिप्राय था:—"मैं क्या करूँगा" यह मैं अभी नहीं

कह सकता। जैसी परिस्थितियां होंगी उसके अनुसार कुछ कर सकता हूँ और नहीं भी कर सकता।"

उपरोक्त उत्तर देते समय मैंने सतर्कता से काम लिया था। इस सतर्कता के दो कारण थे। एक कारण तो था, क्रान्तिकारी प्रयत्नों का इतिहास पढ़ कर यह समझ लेना कि अपनी क्रान्तिकारी इच्छा का ढिंढोरा पीटते फिरना बुद्धिमानी नहीं। नेशनल कालेज के वातावरण में खुफ़िया पुलिस से बचे रहने की सतर्कता मौजूद, थी। जयचन्द्र जी विद्यालंकार को खुफिया पुलिस का आदमी समझ लेने का कोई कारण नहीं था। मेरी वह सतर्कता एक प्रकार से अत्यधिक सतर्कता ही थी जिसका अर्थ जयचन्द्र जी यही समझ सकते थे कि मैं अभी कुछ भी करने के लिये तैयार नहीं हूँ।

इस से कुछ पहले की बात है कि एक दिन अवसर से मैं भगतसिंह के साथ रावी नदी में नौका खेने का अभ्यास करने गया था। हम दोनों ही थे, तीसरा कोई नहीं। यह तो याद नहीं कि प्रसंग कैसे चला परन्तु मैंने भगतसिंह से एक बात पूर्ण विश्वास से कह डाली:—"Let us pledge our lives to country. (हम लोग अपना जीवन देश के लिये अर्पण करने की प्रतिज्ञा कर लें)"

भगतसिंह ने सहसा बहुत गम्भीर हो कर अपना हाथ मेरी ओर बढ़ा दिया—"I do pledge (प्रतिज्ञा करता हूँ।)"

हाथ मिलाने के बाद हम दोनों ही चप्पू चलाना छोड़ निश्चल बैठे रहे। उस समय सूर्यास्त हुआ ही था, आकाश पर लाली थी। अँधेरा होता देख हम लोगों ने नाव किनारे लगा कर माँझी को सौंप दी। लौटते समय भी हम लोग चुप ही रहे, बोले नहीं।

बहुत सम्भव है जयचन्द्र जी ने मुझसे जो बातचीत की, उसकी जड़ में भगतसिंह द्वारा दिया गया हमारी इस बातचीत का कोई संकेत रहा हो! मैंने भगतसिंह से इस विषय में कोई पूछताछ नहीं की। भगतसिंह के सामने वह इच्छा प्रकट करने और जयचन्द्र जी के प्रति शंका का कोई कारण न होने पर भी मैंने अत्यधिक सतर्कता क्यों दिखाई, इस बात को समझने के लिये मुझे अपनी उस समय की मानसिक स्थिति बतानी होगी।

मुझे नेशनल कालेज में आये लगभग छः-सात महीने हो चुके थे। दूसरी सब बातें सोचते विचारते समय मेरे मस्तिष्क में यह बात भी मौजूद रहती कि कालेज की चार वर्ष की शिक्षा पूरी करा सकने योग्य साधन मेरी मां के पास नहीं हैं। मैं शिक्षा अवश्य पूरी कर लेना चाहता था। उसका एक ही उपाय हो सकता था कि मैं अधिक परिश्रम करके कम समय में पहले और दूसरे वर्ष की पाठ्य पुस्तकों को पढ़ कर एक वर्ष बचा लूं। मैंने अपनी इच्छा कालेज के प्रिंसिपल आचार्य जुगलकिशोर जी के सामने प्रकट की। हमारी श्रेणी का विद्यार्थी रामकृष्ण भी सम्भवतः मेरी ही जैसी परिस्थिति में था। इस मांग में उसने भी मेरा साथ दिया। रामकृष्ण बहुत ही गम्भीर स्वभाव और हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति था। वह भी सरकारी स्कूल से फस्ट डिवीजन में मैट्रिक पास करके आया था। हम लोगों के सामने शर्त रखी गयी कि कालेज के पहले सेशन अर्थात् छमाही परीक्षा में यदि अस्सी प्रतिशत या अधिक नम्बर ले लें तो अगले सेशन में हमें इन्टर के दूसरे वर्ष की कक्षा में बैठने की आज्ञा मिल जायगी। हम दोनों उस प्रयत्न में बहुत दत्तचित्त हो कर लग गये। सचेत रूप से तो नहीं कह सकता परन्तु सम्भवतः जयचन्द्र जी को अत्यधिक सतर्कतापूर्ण उत्तर देने और दूसरे झंझटों में न फँसने की सुप्त इच्छा इस कारण में भी रही होगी। इस प्रयत्न में दत्तचित्त हो जाने के कारण साथियों के साथ शरारत में भाग लेना भी कम कर दिया। मैं और रामकृष्ण दोनों ही इस परीक्षा में अस्सी प्रतिशत से अधिक नम्बर लेकर पास हुये और एक कक्षा कूद गये। हम लोगों को अगले छः मास में भी बहुत अधिक परिश्रम कालेज का पाठ्यक्रम पूरा करने के लिये करना पड़ा।

कालेज में डेढ़ वर्ष बीतते-बीतते भगतसिंह और सुखदेव निश्चित रूप से दूसरी ओर बह चुके थे परन्तु अभी कालेज में ही बने थे। मैं अपने साथियों में इस समय कहानी और लेख लिखने की प्रवृत्ति के लिये जाना जाने लगा था। हमारे हिन्दी के अध्यापक पण्डित चेतराम जी चले गये थे और उनकी जगह आ गये थे, हिन्दी के जानेमाने कवि, नाटककार और उपन्यास लेखक पण्डित उदयशंकर जी भट्ट। भट्ट जी की रुचि आधुनिक हिन्दी की ओर अधिक थी। उन्होंने मुझे कहानी लिख कर दिखाने के लिये उत्साहित किया। यह भी आश्वासन

दिया कि छपने लायक होगी तो वे किसी मासिक पत्रिका में सिफ़ारिश भी कर देंगे। एक कहानी लिख कर उन्हें दिखाई। यह कहानी उन दिनों बरेली से प्रकाशित होने वाले मासिक पत्र "भ्रमर" में प्रकाशित हुई थी। इस कहानी के सम्बन्ध में और कोई बात याद नहीं, अलबत्ता मेरा उत्साह जरूर बढ़ गया। मैं छोटे-छोटे गद्य काव्य लिख-लिख कर कानपुर से प्रकाशित होने वाली "प्रभा" और साप्ताहिक "प्रताप" को भेजने लगा। शायद "प्रभा" और "प्रताप" को पहले भेजे जाने वाले लेखों के साथ भी भट्ट जी ने अपनी सिफ़ारिश भेजी थी। स्वर्गीय गणेशशंकर जी विद्यार्थी के जीवनकाल में "प्रभा" और "प्रताप" हिन्दी जगत में क्रान्ति के अग्रदूत थे। आज प्रताप का रंग दूसरा है। नये लेखक उनसे प्रोत्साहन की आशा रख सकते थे। प्रोत्साहन से मेरा अभिप्राय पारिश्रमिक से नहीं, लेख प्रकाशित कर देने से ही है। तब लेख भेजते समय पारिश्रमिक की तो बात भी न सोच सकता था।

"प्रताप" और "प्रभा" में उन दिनों एक छोटा सा कालम "नहीं छापेंगे" शीर्षक भी रहता था। इस शीर्षक के नीचे उन रचनाओं के नाम रहते थे जिन्हें स्थानाभाव या निस्सार समझने अथवा अपनी नीति के विरुद्ध होने के कारण प्रकाशित न कर सकते थे। "प्रताप" और "प्रभा" हमारे कालेज के पुस्तकालय में आते थे। कोई भी रचना भेजने के बाद कई सप्ताह तक "प्रताप" या "प्रभा" का नया अंक आते ही धड़कते दिल से पहले इसी कालम को देखना। अपनी रचना का नाम उस कालम में न पा कर उस अंक की सूचि देखता। वहां भी उसका नाम न देख अगले अंक तक प्रतीक्षा करने का साहस हो जाता। अपनी रचना के अस्वीकृत हो जाने की आशंका इतनी उग्र और कटु थी; मैं लगभग २५ वर्ष बाद भी अनुभव कर सकता हूँ। जहाँ तक उगते लेखकों की अनुभूति का प्रश्न है, यह चोट बहुत ही गहरी समझी जानी चाहिये परन्तु अब मैं सम्पादन कार्य कर चुकने के बाद यह भी अनुभव करता हूँ कि रचनाएँ पाठकों के लिये की जाती हैं और रचनाओं को आँकते समय पाठकों की दृष्टि से उपयोगिता और संतोष का ध्यान रक्खा जाना आवश्यक है। लेखक बन सकने के प्रयत्न में सफलता और असफलता की अनुभूतियों से लेखक का सामना होगा ही। किसी भी लेखक के सभी प्रयत्न समान रूप से सफल नहीं हो

सकते। मेरे वे छोटे-छोटे लेख या गद्य-काव्य "प्रताप" और "प्रभा" से कभी लौटाये नहीं गये। इसका एक कारण यह भी था कि वे रचनाएँ 'प्रभा' और 'प्रताप' की भावना के बहुत अनुकूल थीं अर्थात् उनमें व्यंजना और संकेत से रक्त का मूल्य देकर स्वतंत्रता प्राप्त करने की पुकार रहती थी।

ऊपर कह चुका हूँ कि मेरे साथी लिखने की मेरी प्रवृत्ति से परिचित हो चुके थे और मजाक में मुझे साहित्यिक सम्बोधन करने लगे थे। भगतसिंह में भी ऐसी प्रकृति है, यह सन्देह किसी को नहीं हो पाया था। भगतसिंह ने एक दो बार कोई चीज लिख कर मुझे सुनाई और परामर्श भी लिया परन्तु उसे प्रकाशित होने के लिये कहीं भेजा नहीं। १९२५ की एक घटना याद है। पंजाब में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की नयी-नयी स्थापना हुई थी। इसके सर्वेसर्वा जयचन्द्र जी और उन दिनों लाहौर में मौजूद पुत्तूलाल जी विद्यार्थी थे। उर्दू प्रधान लाहौर में सम्मेलन की ओर बहुत कम लोगों की रुचि थी। नेशनल कालेज के कुछ विद्यार्थी और दूसरी संस्थाओं के हिन्दी अध्यापक ही प्रायः उसमें योग देते। सम्मेलन ने किसी एक विषय पर सर्वोत्तम निबन्ध लिखने के लिये ५०) के पुरस्कार की घोषणा की थी। मैंने निबन्ध लिखा था। कई महीने तक परिणाम की प्रतीक्षा करने पर पता लगा कि पुरस्कार किसी व्यक्ति को नहीं दिया जा सकता क्योंकि निर्णायकों ने तीन निबन्धों को एक ही कोटि का ठहराया था। यह भी मालूम हो गया कि उन तीनों में से एक निबन्ध मेरा था। दूसरे दो निबन्ध लेखकों के नाम जानने के लिये खोज की तो पता लगा कि दूसरा निबन्ध भगतसिंह का था और तीसरा किसी और सज्जन का।

लिखने की ओर भगतसिंह की प्रबल रुचि थी। मैं केवल हिन्दी में लिखता था, वह उर्दू में भी लिखता। कुछ दिन बाद स्थानीय उर्दू पत्रों में उसकी लिखी छोटी-छोटी चीजें प्रकाशित भी होने लगी थीं। अपने विचारों के प्रचार के लिये अथवा सन् २४-२५ में प्रायः सो गयी राष्ट्रीय भावना को जगाने के लिये हमने नाटकों का माध्यम भी अपनाया। इस चेष्टा के दोनों ही कारण थे, नाटक खेलने की इच्छा और नाटक को अपने विचारों के प्रचार का साधन बनाना भी। किसी लेखक का "महाभारत" नाटक था। उसके वार्तालापों में जगह-जगह

परिवर्तन कर के हम लोगों ने अपने लिये उपयोगी बना लिया। इसका नाम रखा 'कृष्ण विजय'। व्यंजना से अंग्रेजों को कौरव और कांग्रेसियों को पाण्डव बना लिया। इसमें कुछ गाने, विशेष कर प्रहसन भाग में, सम्मिलित कर लिये। इनमें से एक गाना था—"कदे तूं वी हिन्दिया होश सँभाल ओ" (ऐ हिन्दी कभी तू भी होश सँभाल ! तेरा घरबार विदेशी लूट ले गया और तू बे खबर सो रहा है। ओ लूटने वाले हमारे साथ ज़्यादतियाँ न कर। हम तेरी चालें समझ चुके हैं·······) इत्यादि।

यह गाना सरदार अजीतसिंह के एक पुराने गीत—"पगड़ी सँभाल ओ जट्टा" (अरे किसान तेरे सिर की पगड़ी उतरी जा रही है।) के भाव को लेकर बनाया गया था। सरदार अजीतसिंह के उस गीत को सरकार ने गैरकानूनी कर दिया था। हमारे नाटकों के ऐसे विदेशी सरकारद्रोही भागों को भी गैरकानूनी करार दे दिया गया। कुछ दिन हम लोगों को नाटक खेलने का खूब शौक रहा। दो नाटक हम लोगों ने लाहौर में खेले। फिर 'गुजराँवाले' में प्रान्तीय-कांग्रेस की कान्फ्रेंस के अवसर पर भी "भारत दुर्दशा" नाटक खेला। नाटकों का आरम्भ किया गया था देहरादून में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मौके पर १९२४ में राजा भोज के कवि दरबार का नाटक खेलने से। राजा भोज के दरबार में आधुनिक हिन्दी कवियों की उपस्थिति की कल्पना जयचन्द्र जी के मस्तिष्क की उपज थी। इसमें मैंने राजा भोज की भूमिका की थी। भगतसिंह भी "भारत दुर्दशा" आदि कई नाटकों में अभिनय करता रहा। नाटकों के कार्यक्रम में साथी झंडासिंह (अब सरदार जसवन्तसिंह) और बलदेव जो अब रिजर्व बैंक आफ़ इण्डिया में बहुत जिम्मेवार पद पर हैं, बहुत अग्रणी भाग लिया करते थे।

नाटकों का जिक्र करते-करते नवयुवकों के मूँछ मुँडा कर स्त्रियों का अभिनय करने के सम्बन्ध में एक बात याद आ गई। हमारे 'कृष्ण-विजय' नाटक में रुक्मणी की भूमिका बलदेव और धर्माभिलाषी–जिनकी मृत्यु रावी में डूब जाने के कारण हो गई—सत्यभामा की भूमिका किया करते थे। इन साथियों को स्त्रियों की भूमिका के लिये चुनने का कारण यह था कि ये दोनों "गन्धर्व महाविद्यालय" में संगीत की शिक्षा पाते थे और दोनों के गले भी अच्छे थे। बलदेव गाने के शौक के साथ-साथ कसरतबाज भी था। घर से एक कनस्तर घी ले आना और सुबह शाम

पाँच सौ डंड-सपाटे लगाना, कभी-कभी अखाड़ा भी लड़ लेना। सामने आदमकद आइना रख कर अपने भुजदंडों के पुट्ठे फुला-फुला कर देखने का उसे बहुत शौक था। जब वह अपनी बांह सैंडों की तरह मोड़ता तो ऊपर के पुट्ठे अच्छे बड़े लड्डू की तरह उभर आते।

नाटक के लिये बढ़िया कपड़े-खास कर साड़ियों और ब्लाउज वगैरह की जरूरत होती थी। रानी की भूमिका में तो बढ़िया रेशमी जरीदार चीजें होनी ही चाहिये। ये चीजें हम लोग सहानुभूति रखने वाले परिचित परिवारों से माँग लाते। रुक्मणि की भूमिका के लिये बहुत बढ़िया साड़ी और ब्लाउज लाहौर के प्रसिद्ध कश्मीरी परिवार की श्रीमती लाड़ो रानी जुत्शी से माँग लाये थे। उनका लिहाज भी था और शायद उन्होंने सबसे आगे बैठने का टिकट भी खरीदा था। वे रंगमंच के बिलकुल सामने बैठी हुई थीं। जिस समय रुक्मिणी की भूमिका में बलदेव चेहरे पर सफेदी और लाली पोते अत्यन्त सुन्दर रुक्मणी बन कर मंच पर आया श्रीमती जुत्शी ने अपनी साड़ी और ब्लाउज पहिचान लिया। जब बलदेव ने "हाय मेरे पीतम प्यारे" कहने के लिये बाँह आकाश की ओर उठा हावभाव से अपने हृदय को छुआ तो उसकी बाँह के पुट्ठे फूलने से जनानी बांह की नाप से बना ब्लाउज चर्रा कर फट गया। सामने बैठी जुत्शी पुकार उठीं—"हाय मेरा ब्लाउज!" इससे जो कुछ रस भंग हुआ हो बलदेव अपने कसरती शरीर से ललना की तरह इठलाते और बल खाते हुये कृष्ण के विरह में आलाप करता ही रहा।

सन् २४-२५ में लाहौर अथवा पंजाब के किसी भाग में, सम्भव है भारतवर्ष के किसी भी प्रान्त में, कला के प्रति रुचि के कारण नाटक करने वाले लोगों में भले घर की लड़कियों के सहयोग देने की कल्पना नहीं की जा सकती थी। भले घर के लड़के तो रंगमंच पर आ सकते थे परन्तु उनकी बहनों के लिये यह बात कल्पनातीत थी। स्त्री-पुरुषों के लिये आचार की मर्यादा भिन्न-भिन्न थी। इस सम्बन्ध में एक घटना अलमोड़े में सुनी है:—वहाँ 'रैमजे हाई स्कूल' के हाल में किसी नाटक का आयोजन किया गया था। नाटक के स्त्री पात्रों की भूमिका के लिये जब कुछ लड़के चुने जाने का प्रश्न आया, अलमोड़ा के प्रसिद्ध देवदा (देवीदत्त पन्त, एम० पी०) ने इस बात को अस्वाभाविक और पाखंड-पूर्ण बता कर आग्रह किया कि नाटक करना है तो स्त्रियों की

भूमिका स्त्रियाँ ही करें। अलमोड़ा में न तो भले घर की किसी स्त्री को मंच पर आने का साहस हो सकता था न कोई भला परिवार अपनी बहन, बेटी या बहू को इसके लिये अनुमति दे सकता था। परन्तु देवदा भी बीहड़ व्यक्ति हैं। उन्होंने गाने-बजाने वाली तीन-चार वेश्याओं को अवैतनिक सहयोग देने के लिये तैयार कर लिया। इस अनाचार से अलमोड़ा में कोहराम मच गया। भले लोगों ने इसका विरोध किया परन्तु देवदा भी अपने सिद्धान्त के लिये लड़ रहे थे। वेश्याओं के नाटक में सम्मिलित होने का विरोध करने वाले लोगों ने 'रैमजे हाईस्कूल' के प्रबन्धक पादरियों से अनुरोध किया कि वे अपने हाल में नाटक करने की आज्ञा ही न दें।

देवदा वकील भी हैं। उन्होंने 'रैमजे हाईस्कूल' के अधिकारियों को कानूनी धौंस दे दी कि यदि उन्होंने अब हाल देने से इन्कार किया तो वे कंट्रेक्ट तोड़ने के लिये उन पर दावा कर देंगे। लोगों ने देवदा को समझाया कि वेश्याओं को बीच में ला कर अपने नवयुवकों का चरित्र क्यों खराब करना चाहते हैं? देवदा ने दूसरी कानूनी धौंस दी— नाटक में भाग लेने के लिये तैयार वेश्याओं के चरित्र पर आक्षेप करने वाले लोगों के विरुद्ध वे कानूनी कार्रवाई करेंगे; क्योंकि वे वेश्याएँ झूठे मुकद्दमे करने वाले वकीलों और इन्कमटैक्स के बारे में सरकार को धोखा देने वाले व्यापारियों से कहीं सच्चरित्र और ईमानदार हैं। उनका कहना था कि अगर आपके नवयुवक सच्चरित्र हैं तो उनकी संगति में इन वेश्याओं का चरित्र और भी अधिक सुधर जायगा। इतनी बात सुन कर ही मुझे इतनी हँसी आ गई कि यह पूछना ही भूल गया कि फिर वह नाटक हुआ या नहीं और हुआ तो किस रूप में।

आज सभ्य समाज में किये जाने वाले नाटकों में भले घर की बहू बेटियों के रंगमंच पर आ जाने से लोगों का माथा गरम नहीं होता। कई नाटकों में नवयुवकों और नवयुवतियों ने स्वाभाविक तौर पर स्त्री पुरुषों की भूमिकाओं को पूरा किया है। इस पर कोई दंगा फ़साद भी नहीं हुआ। नगरों में भले घर की लड़कियाँ रंगमन्च पर नृत्य प्रदर्शन तो आये दिन करती ही रहती हैं। क्या यह समझा जाय कि इस पच्चीस वर्ष में हमारे समाज की स्त्रियों का चरित्र गिर गया है? विपरीत इसके इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि पच्चीस वर्ष पूर्व भले

घर की बहू बेटियों का कहीं अकेले आना जाना निरापद न था. आज वे आवश्यकता पड़ने पर शहरों में आधी रात में कहीं भी अकेली आ जा सकती हैं।

हमारा बोर्डिंग 'शीशमहल' से बदल कर गोलबाग के सामने एक बँगले में आ गया था। इन्हीं दिनों रुद्रदत्त भारद्वाज मैट्रिक पास करके नेशनल कालिज में आकर भर्ती हुआ था। वह, मैं और आजकल बिहार सरकार के डिप्टी डाइरेक्टर आफ पब्लिक रिलेशन्स नन्दकिशोर जी तिवाड़ी एक ही कमरे में थे। ये दोनों ही व्यक्ति बहुत अध्ययनशील थे परन्तु दोनों की अध्ययनशीलता में अन्तर था। तिवाड़ी जी तो झुंझला-झुंझला कर एक ही पुस्तक को बार बार पढ़ते थे कि याद क्यों नहीं होता। भारद्वाज की बात दूसरी थी। वह कुछ न कुछ पढ़ता ही रहता। विद्यार्थियों के खेल कूद से बिलकुल निरपेक्ष, जब देखो किसी न किसी पुस्तक में सिर गड़ाए। झंडासिंह ने और मैंने उससे छेड़खानी कर उसे मजाक का साधन बनाने की काफी कोशिश की। वह मौन सत्याग्रह कर बैठ जाता। हमें कुछ सफलता न हुई। तिवाड़ी जी छेड़-खानी से झुंझला उठते, थोड़ा बहुत समय उनके साथ कट जाता। इसके बाद १९३१ में फरारी के समय इलाहाबाद में भारद्वाज से मुलाकात हुई। इस समय वह इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के खास योग्य विद्यार्थियों में गिना जा रहा था। उस समय तक उसका व्यक्तिगत राजनैतिक महत्व सामने नहीं आया था। मिलने पर मैंने उससे पूछा कि वह हम लोगों की क्या सहायता कर सकेगा? उसने उत्तर दिया कि वह अपने भाई के मेहमान के तौर पर इलाहाबाद में है, आर्थिक रूप से बिलकुल पराधीन है। शेष जो बात उसकी समझ में आयेगी उसमें वह परिस्थिति के अनुसार सहयोग दे भी सकेगा। उस समय मैं इलाहाबाद से कानपुर चला गया और फिर फरारी की अवस्था में उससे मुलाकात नहीं हुई।

भारद्वाज नेशनल कालेज में थोड़े ही दिन रहा। वहाँ कालिज में उसका मन नहीं लगा। कालेज इस समय अच्छी अवस्था में न था। बहुत से विद्यार्थी कालेज को छोड़ कर जा चुके थे। नेशनल स्कूल की स्थापना हो चुकी थी। नेशनल स्कूल में हिन्दी के अध्यापक की जगह खाली हो जाने पर मुझे अवसर मिल गया। मैं वहाँ पढ़ा कर निजी तौर पर बी० ए० की परीक्षा की तैयारी करने लगा।

इन दिनों भगतसिंह और सुखदेव प्रायः कालेज से गायब रहने लगे थे। भगतसिंह का व्यवहार मजाक के अलावा कामकाज के बारे में कुछ सख्त हो गया था जिसका मतलब यह था कि कुछ करते हो तो साफ साफ बता दो! अध्यापक का काम करते हुये मेरा स्कूल में परीक्षा की तैयारी करने का कारण यह था कि अब अपने शिक्षा के व्यय के लिये मां से आशा नहीं कर सकता था। उनके पास जो कुछ पुरानी पूंजी थी, वह लगभग खर्च हो गई थी। जो कुछ शेष था, वह कुछ ऐसे सम्बन्धियों के हाथों में फँस गया था कि निकट भविष्य में पा लेने की कोई आशा नहीं थी।

इस समय दल के संगठन की बात कुछ-कुछ स्पष्ट होने लगी थी। हिन्दुस्तानी प्रजातंत्र दल (एच० आर० ए०) का एक परचा लाहौर में बलराज के दस्तखत से बाँटा गया था। इस खतरनाक परचे का सफल बंटवारा संगठन और आयोजन के बिना नहीं हो सकता था। मैं सहयोग तो दे रहा था परन्तु स्कूल में अपनी नौकरी और परीक्षा की तैयारी छोड़ने के लिये तैयार न था।

सत्याग्रह के मार्ग की विफलताओं पर हम लोगों की बहस उन दिनों बहुत चलती थी और प्रजातंत्र और समाजवादी पद्धति का भी चर्चा काफी जोर से होता था। समाजवाद की ओर ध्यान जाने का सीधा-सादा कारण था, रूस के सम्बन्ध में साहित्य हाथ आना। 'तिलक स्कूल आफ पालिटिक्स' और 'सरवेंटस आफ पीपुलस सोसाइटी' के अतिरिक्त लाला लाजपतराय ने अपने पिता के नाम पर 'द्वारकादास पुस्तकालय' की भी स्थापना की थी। इस पुस्तकालय में राजनैतिक पत्र पत्रिकाएँ और सामयिक साहित्य काफी मात्रा में आता था। कानपुर के प्रसिद्ध राजाराम शास्त्री, आज कल एम० एल० ए०, इस पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष थे। हम लोग प्रायः हम उम्र थे और शास्त्री जी को हमारे विचारों से भी सहानुभूति थी इसलिये 'द्वारकादास पुस्तकालय' हम लोगों का अच्छा खासा अड्डा बन गया था। इस पुस्तकालय में सुविधा यह थी कि आस-पास अनेक कालेजों के बोर्डिंग होने के कारण यहाँ विद्यार्थी काफी मात्रा में आते थे और शास्त्री जी यह बता सकते थे कि कौन विद्यार्थी राजनैतिक अथवा क्रान्तिकारी साहित्य में रुचि रखते हैं। शास्त्री जी स्वभाव से विनोदी, मिलनसार और कद में काफी छोटे हैं। इसलिये

प्रायः उनके नाँ ना करते रहने पर भी लाइब्रेरी से जरूरत के मुताबिक पुस्तकें झपटी जा सकती थीं। कभी रात-बिरात घूमघाम कर आने पर उनकी खाट या कमरे पर भी जबर्दस्ती दखल किया जा सकता था। एच०.आर० ए० का परचा बांटने में शास्त्री जी का पूरा सहयोग था।

भगवतीचरण

भगवती चरण नेशनल कालेज में हम लोगों से दो वर्ष ऊपर थे। कालेज में उन्हें देखते तो थे ही परन्तु आत्मीयता नहीं थी। वे बोर्डिंग में नहीं, शहर में रहते थे। उन्होंने यूनिवर्सिटी से साइन्स में इन्टर पास कर लेने के बाद असहयोग किया था। उनसे आन्तरिकता कुछ तो १९-२४ में देहरादून हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर और फिर १९ २५ में एच० आर० ए० (हिन्दुस्तान रिपबलिकन सेना) का परचा बांटने के सिलसिले में हुई। किसी भी व्यक्ति के सम्बन्ध में यह मालूम हो जाना कि वह सशस्त्र क्रान्ति के काम में साथ है, आत्मीयता बढ़ाने के लिये यथेष्ट था। इसका मतलब था कि वह हमारे जीवन-मरण के खेल का साथी है।

यूं तो भगतसिंह का डीलडौल भी दो-तीन वर्ष में काफी पनप आया था परन्तु भगवतीचरण की बराबरी वह भी न कर सकता था। कद छः फुट से कुछ ही कम, दोहरा, कसरती, चुस्त बदन। गोल सा गम्भीर चेहरा, गंदमी रंग, जरा भारी होंठ, आंखें चश्में के शीशों के पीछे छिपी हुई। वे लाहौर में ही पैदा हुये थे परन्तु वंशक्रम से गुजराती ब्राह्मण थे। उत्तर प्रदेश में और बिहार में ऐसे लाखों बङ्गाली मिलते हैं जिनके प्रपितामह बंगाल से क्लर्की करने आये थे और यहीं बस गये। उनमें से अधिकांश ने बंगाल को नक्शे के अलावा अपनी आंखों से नहीं देखा परन्तु बंगाली होने का दम सबसे अधिक वही भरते हैं। तीन पीढ़ी तक बिहार और उत्तर प्रदेश में रह चुकने के बाद भी वे लोग कठिनाई से बंगला उच्चारण में ही हिन्दी बोल पाते हैं। ऐसे ही लोगों की वजह से बंगाल प्रान्तीय संकीर्णता के लिये बदनाम है। भगवतीचरण अपने आपको पंजाबी ही कहते थे और इतना शुद्ध पंजाबी उच्चारण करते थे कि उनके बहुत अन्तरंग लोगों के सिवा शायद ही कोई जानते हों कि उनके पूर्वज गुजरात से आगरा और आगरे से लाहौर में आकर बसे थे।

भगवतीचरण के पिता पण्डित शिवचरण आगरा से लाहौर में आये थे। वे रेलवे के दफ्तर में अच्छे ऊँचे पद पर थे। अङ्गरेज सरकार ने उन्हें रायसाहब का खिताब दिया था। भगवतीचरण के दादा आगरे में, उस समय तक हिन्दी के छापे का टाइप न बनने के कारण, जीविका के लिये हिन्दी की किताबत करते थे। उनका जिक्र करते हुये भगवती भाई ने बताया था कि दादा एक रुपया रोज कमाते थे। जब एक रुपये के मूल्य का काम हो जाता, दिन का काम बन्द कर देते। आज से प्रायः सौ वर्ष पूर्व एक रुपया ऐसा ही रहा होगा जैसे आज पन्द्रह बीस रुपये; क्योंकि भाव आजकल की अपेक्षा १५-१६ गुने कम रहे होंगे और खर्च के अवसर भी कहीं कम। यह लोग जाति के ब्राह्मण थे परन्तु पेशा ब्राह्मण का न होने के कारण उपजाति वोहरा थी।

इन दिनों गुप्त संगठन के कार्य का क्षेत्र तैयार करने के लिये पंजाब में एच० आर० ए० का परचा आया तो जयचन्द्र जी के सूत्रों से था परन्तु रखा गया था भगवतीचरण के मकान पर ही। इसे बाँटने के आयोजन में भी भगवतीचरण ने पूरा सहयोग दिया। एक बार आन्तरिकता हो जाने पर भगवतीचरण से निकटता बढ़ते जाना बहुत स्वाभाविक था। इन्हीं दिनों गुप्त संगठन के कार्य का क्षेत्र तैयार करने और जनता में उग्र राष्ट्रीय भावना जगाने के लिये नौजवान भारत सभा की स्थापना भी कर ली गई थी। नौजवान भारतसभा की स्थापना के लिये विचार और सूत्रपात से ही हम सबने सहयोग दिया। उसके मुख्य सूत्राधार भगतसिंह और भगवतीचरण ही थे। सभा का कार्य प्रकट था और सार्वजनिक जीवन से सम्पर्क रखने वाले विश्वस्त कार्यकर्ताओं को उसमें सुविधा से लपेटा जा सकता था। वह हमारे गुप्त संगठन का सार्वजनिक आधार था। भगतसिंह जनरल सेक्रेटरी और भगवतीचरण प्रोपेगेण्डा सेक्रेटरी बने। इनके साथ सार्वजनिक क्षेत्र से प्रमुख सहयोग देने वाले थे, साथी धन्वन्तरी और एहसानइलाही। कुछ ही दिन में कांग्रेस में समाजवादी प्रवृत्ति रखने वाले सभी नौजवान इसके सहयोगी बन गये। वह संगठन भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में किस प्रकार फैल गया था, यह सभी लोग जानते हैं।

नौजवान भारतसभा का कार्यक्रम गान्धीवादी कांग्रेस की समझौतावादी नीति की आलोचना कर जनता को उग्र राजनैतिक कार्यक्रम की

प्रेरणा देना और जनता में क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिये सहानुभूति उत्पन्न करना था। सभा को उस समय के कांग्रेस के वामपक्षी नेताओं उदाहरणतः डाक्टर सत्यपाल, डाक्टर किचलू, केदारनाथ जी सहगल, पिंडीदास जी आदि का भी सहयोग मिल रहा था। लाला लाजपतराय इस समय पूर्णरूप से महासभाई हो चुके थे और डाक्टर गोपीचन्द भार्गव उनके अनन्य समर्थक बन कर राजनैतिक महत्व प्राप्त कर रहे थे। भगवतीचरण, भगतसिंह सुखदेव धन्वन्तरी, एहसानइलाही, सोढी और मैं सभा का कार्यक्रम निश्चित करने से लेकर जलसा करने के लिये दरियाँ ढोने और बिछाने का सभी काम करते थे। हम लोगों के फरार हो जाने के बाद हमारे कालिज के विद्यार्थी रामकृष्ण, धन्वन्तरी और एहसानइलाही इसे चलाते रहे। बाद में रामकृष्ण और धन्वन्तरी के भी फरार हो जाने पर सभा जाने किन लोगों के हाथ जा पड़ी; परन्तु उसकी परम्परा बहुत कुछ वैसी ही बनी रही।

प्रकट आन्दोलन से क्रान्ति का जितना प्रचार सम्भव था, नौजवान भारत सभा कर रही थी। यह सभा की ही हिम्मत थी कि १६१४ के लाहौर षड्यंत्र के मुकद्दमे में हँसते-हँसते फाँसी चढ़ जाने वाले १८ वर्ष के नवयुवक कर्तारसिंह की बरसी 'ब्रैडला हाल' में सार्वजनिक रूप से मना कर उसके चित्र का उद्घाटन किया गया। यह उत्सव एक प्रकार से नौजवानों को सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टा में सम्मिलित होने का निमंत्रण ही था। उत्सव का अनुष्ठान भी बड़े हृदयस्पर्शी ढंग से किया गया था। भगतसिंह ने शहीद कर्तारसिंह का एक छोटा सा चित्र खोज निकाला। उसके आधार पर कर्तारसिंह का एक बहुत बड़ा चित्र भगवती भाई ने अपने खर्च पर बनवाया। चित्र पर खूब श्वेत खद्दर का एक पर्दा लटका दिया गया था। दुर्गा भाभी और सुशीला दीदी ने अपनी उंगलियों से रक्त निकाल इस पर्दे को छींटों से रंग दिया। इस अवसर पर मुख्य भाषण भी भगवतीचरण ने ही दिया था।

नौजवान भारत सभा का क्रान्तिकारी रूप उसके सामाजिक प्रयत्नों से भी प्रकट था। उग्र राजनैतिक व्याख्यानों के अतिरिक्त हम लोग सामाजिक भोजों का भी आयोजन करते थे। इन भोजों की विशेषता बहुमूल्य और स्वादु व्यंजन नहीं थी। इन भोजों में बैठने के लिये टाट बिछा लिये जाते। पत्तलों और सकोरों में खिचड़ी या चने का पुलाव और

मठा ही परोसा जाता था। सभी सम्प्रदायों, वर्णों और जातियों के लोगों को इनमें सम्मिलित किया जाता और सब लोग एक साथ बैठ कर एक दूसरे के हाथ से परोसा हुआ भोजन करते थे। एक अवसर पर तो कुछ दुस्साहसी नवयुवकों ने हलाल (मुसलमानों की साम्प्रदायिक रूढ़ि के अनुसार काटे हुये पशु) और झटके (सिखों की साम्प्रदायिक रूढ़ि द्वारा काटे हुये पशु) का मांस एक ही देग में पका कर गोश्त रोटी का भोज कर डाला जिसमें मुसलमान, हिन्दू और सिख काफी संख्या में सम्मिलित थे। यही गनीमत रही कि रूढ़िवाद से परेशान यह नवयुवक गाय और सुअर तक नहीं पहुँचे।

नौजवान भारतसभा साम्प्रदायिक एकता को राजनैतिक कार्यक्रम का बहुत ही महत्व पूर्ण अंग समझती थी परन्तु इसकी दृष्टि में साम्प्रदायिक एकता का मार्ग कांग्रेस के कार्यक्रम की तरह सभी साम्प्रदायिक धारणाओं को फुसलाना नहीं था। अर्थात् हम लोग 'अल्ला हो अकबर', 'सत श्री अकाल' और 'बन्दे मातरम्' के नारे एक साथ नहीं लगाते थे। हमारे केवल दो नारे थे—'इन्कलाब जिन्दाबाद' और 'हिन्दुस्तान जिन्दाबाद'। इसके अतिरिक्त सभा रूढ़िवाद और साम्प्रदायिकता के अंधविश्वास को दूर करना भी आवश्यक समझती थी। सभा की ओर से ऐसे सार्वजनिक व्याख्यानों का भी प्रबन्ध किया जाता था जिनमें अन्धविश्वास और शब्दप्रमाण (Dogmatism) के आधार पर साम्प्रदायिक आदर्शवाद का निराकरण करके वैज्ञानिक भौतिकवाद का परिचय लोगों को दिया जा सके। 'सर्वेण्टस आफ पीपल्स सोसाइटी' के प्रिन्सीपल छबीलदास जी का इस विषय में काफी सहयोग रहता था। अनेक मुसलमान साथी—फजल, मन्सूर और एहसानइलाही भी इनमें खूब सरगरमी से भाग लेते थे। एक दिन ऐसे ही व्याख्यान में शायद छबीलदास जी के बाद मन्सूर या एहसान इस्लाम की अन्धविश्वास की अतार्किक बातों का जिक्र कर रहे थे। हम यह उचित समझते कि प्रत्येक सम्प्रदाय की आलोचना यथासम्भव उसी सम्प्रदाय के व्यक्ति से कराई जाय। उस समय श्रोताओं में से एक मुसलमान छुरा खींच बैठा कि वह वक्ता को क़त्ल करेगा। इस धर्मान्ध भलेमानुस को पकड़ एक ओर ले जा कर समझाया गया कि इस से पहले वक्ता ने भी तो यही सब कहा था तब आप कैसे चुप बैठे थे? आवेश में उसने उत्तर दिया कि अगर

कोई हिन्दू या इसाई इस्लाम की आलोचना करता है तो मैं साम्प्रदायिक सहिष्णुता के नाते सहने के लिये तैयार हूँ परन्तु मुसलमान के मुख से इस्लाम की आलोचना सुनने के लिये तैयार नहीं। उस समय व्याख्यान को समाप्त कर देना उचित न जँचा। इसका अर्थ होता भविष्य में हिन्दू धर्मान्ध लोगों को भी इस प्रकार का फसाद खड़ा करने के लिये प्रोत्साहन देना। खैर, जैसे तैसे व्याख्यान पूरा हुआ। गड़बड़ की रिपोर्ट पुलिस में करने का परिणाम हमारे जलसों पर रोक लग जाना ही होता। इसलिये उन्हें चुनौती दी—"तुम्हें जो करना है, कर लो। अगर तुम अपने विश्वास के लिये मरने-मारने के लिये तैयार हो तो हम लोगों के भी दो-दो हाथ हैं और हमारी रोटी कौवा उठा कर नहीं ले जाता। सभा की चर्चा वास्तव में गुप्त क्रान्तिकारी आन्दोलन के प्रकट रूप की ओर ध्यान दिलाने के लिये ही की है क्योंकि सभा के आन्दोलन की जड़ गुप्त क्रान्तिकारी आन्दोलन में ही थी। दल सभा द्वारा ही अपने ध्येय को एक सीमा तक जनता के सामने रख सकता था।

सन १९२६ की बात है; हम लोगों का जो कुछ थोड़ा बहुत संगठन उस समय तक बन पाया था उसके सब सूत्र जयचन्द्र जी ही संभाले थे। दल नौजवान भारतसभा बनाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सका था। हम लोगों को उससे कोई सन्तोष नहीं था। भगवतीचरण कुछ समय सभा के काम में लगाते, कुछ समय हिन्दी साहित्य सम्मेलन में सहायता देते। इन कामों से सन्तोष न होता तो खीझ कर नौकरी तलाश करने की चेष्टा भी करते। भगतसिंह, सुखदेव और भगवती भाई भी बेचैनी अनुभव कर रहे थे। यह लोग क्रियात्मक कदम उठाना चाहते थे परन्तु जयचन्द्र जी गूढ़ भौगोलिक और ऐतिहासिक शिक्षा और संगठन बढ़ाने और फिर से छांट देने से आगे बढ़ना नहीं चाहते थे। भगतसिंह ने पंजाब से दिल्ली और कानपुर जा कर दूसरे प्रान्त के लोगों से सम्पर्क ढूँढ़ने का निश्चय किया। भगतसिंह की लाहौर से बाहर जाने की इच्छा का एक कारण यह भी था कि सरदार किशनसिंह जी उसके घर के कामकाज की उपेक्षा कर केवल राजनैतिक कार्य में लगे रहने के कारण चिढ़े रहते और उस पर अपना अंकुश बढ़ा रहे थे।

भगतसिंह पिता को कोई सूचना दिये बिना लाहौर से दिल्ली पहुँच गया। दिल्ली से प्रकाशित अर्जुन में पांव रखने के लिये वह जयचन्द्र

जी की सिफ़ारिश लेता गया था। सिफ़ारिश भी कैसी ? कोई आदमी लगभग मुफ्त काम करने के लिये तैयार हो तो उसका स्वागत कौन नहीं करेगा ? वह कुछ दिन अर्जुन अखबार में काम करता रहा। अपनी निष्ठा और कठिन परिश्रम से उसने पण्डित इन्द्रविद्यावाचस्पति का विश्वास शीघ्र प्राप्त कर लिया। अर्जुन में काम करते समय एक रोज़ अनुवाद करने के लिए उसे एक तार दिया गया। तार था "चमन लाल, एडिटर डिफंक्ट नेशन ऐराइव्ड एट लाहौर।" भगतसिंह ने उसका अनुवाद किया "डिफंक्टनेशन के सम्पादक मिस्टर चमनलाल लाहौर आ गये।" अनुवाद अर्जुन में छप भी गया।

इन्द्र जी ने अनुवाद की ओर भगतसिंह का ध्यान दिलाया परन्तु भगतसिंह को इसमें कोई भूल दिखाई न दी। उसका खयाल था कि चमनलाल 'डिफंक्ट नेशन' नामक पत्र के सम्पादक हैं। इन्द्र जी ने उसे डिक्शनरी देखने का आदेश दिया और भगतसिंह को मालूम हुआ कि 'डिफंक्ट' का अर्थ 'बन्द हो चुका हुआ' पत्र है। ऐसी ही एक और मजेदार बात भगतसिंह के उस समय के अंग्रेजी ज्ञान के बारे में याद है। सिनेमा देखने का शौक भगतसिंह को काफी था परन्तु टिकट के दामों की कठिनाई रहती थी। पिता से सिनेमा के लिये तो क्या जूता तक खरीदने के लिये दाम माँगना उसे गवारा न था। घर के कामकाज के बारे में जब वह उनकी बात मानने को तैयार नहीं था तो खर्चा कैसे माँगता। समस्या का एक ही हल था, कि ज़रूरतों की परवाह न करना और कभी साथियों की जेब में पैसा देख लेने पर उसका उपयोग कर लेना। एक दिन जयदेव गुप्त ने उसे सिनेमा दिखाने का वायदा कर लिया था। तब हम लोग सिनेमा चवन्नी के टिकट में देखते थे परन्तु चवन्नी का ही मूल्य काफी था ! दो आने में तो घी चुपड़ी हुई तन्दूर की दो बड़ी-बड़ी रोटियाँ और मामूली छुंकी हुई दाल तरकारी का भोजन हो जाता था।

भगतसिंह को घी दूध का शौक भी कम नहीं था। अनारकली में कालू दूध-दही वाले के यहाँ सरदार किशनसिंह जी का उधार हिसाब चलता था। भगतसिंह जब चाहता वहाँ से दूध-दही खा पी सकता था और उसके साथ जो कोई हो, उसे भी खिला-पिला सकता था परन्तु किसी तन्दूर या तवे पर उधार नहीं था। भगतसिंह सांडा (घर) जाने

से कतराता था। रामकृष्ण ने ग्रेजुयेट हो कर मोहनलाल रोड पर एक सुथरा सा होटल खोल लिया था। हम सब लोग खाने के लिये वहीं पहुँचने लगे थे। अपने लोगों में से कोई किसी समय खाना खा रहा हो और भगतसिंह पगड़ी के दोनों छोर दोनों कन्धों पर लटकाये सामने से गुजर जाये तो वह होटल में चला आता। बिना किसी भूमिका के एक कुर्सी उठा वह सामने बैठ जाता और चपाती के बड़े से टुकड़े का दोना बना दाल के ऊपर तैरता हुआ घी एक ही बार में समेट मुंह में रख लेता। अगर राजाराम शास्त्री होटल में दिखाई दे जायँ तो भगतसिंह जरूरी काम छोड़ कर, भूख न होने पर भी उनकी कटोरी में से सब घी ज़रूर पी जाता। शास्त्री जी हाथ फैलाये "देखो, अरे देखो, क्या कर रहा है। अरे देखो तो इस जाट को!"—सहायता के लिये दुहाई देते रह जाते।

पंजाब में घी अधिक मात्रा में खाने का कुछ चलन था। उन्हें वह पच भी जाता था। एक दिन भगतसिंह से कुछ आवश्यक बात करते-करते मैं उसके गाँव सांडा पहुंच गया। भोजन का समय था। उसकी मां ने कहा—"पहले खा लो!" एक बड़ी सी कटोरी में लौकी की तरकारी और थाली में बहुत सी बड़ी-बड़ी रोटियाँ उन्हों ने हम दोनों के बीच में रख दीं। तरकारी में घी इतना था कि भगतसिंह भी घबरा गया। वह झुँझला उठा—"मां इतना घी कोई खा सकता है? तुम तो तरकारी को बरबाद कर देती हो।"

भगतसिंह की मां ने गाल पर उंगली रख मुझसे शिकायत की—"देख तो इस लड़के को; कुछ खाता ही नहीं! तभी तो सूख कर कांटा हो रहा है।"

भगतसिंह के लमतड़ंग, हृष्ट पुष्ट शरीर की ओर संकेत कर मैंने पूछा "—अगर यह कांटा है तो फिर मैं तो हूँ ही नहीं।" मां को हँसी आई परन्तु स्नेह की गाली दे मुझे डाँट भी दिया—"धत् नालायक। बच्चों को ऐसे नजर लग जाती है।" अस्तु........

मैं भगतसिंह के उस समय के अंग्रेजी ज्ञान का उदाहरण दे रहा था। जयदेव गुप्त ने सन्ध्या समय भगतसिंह को साथ सिनेमा ले चलने का वायदा किया था। भगतसिंह जहां भी था, सिनेमा न चूकने

के लिये भागा हुआ लौट आया। देखा कि जयदेव निश्चिंत लेटा कोई उपन्यास पढ़ रहा है। भगतसिंह ने अपने पाँव से जयदेव के पांव पर ठोकर दे चेतावनी दी—"अबे उठ, सिनेमा का वायदा भूल गया ?"

जयदेव ने लेटे ही लेटे चिढ़ कर कड़े स्वर में डांट दिया—"अजीब ज़ाहिल है, मेरी तबीयत खराब है इसे सिनेमा की पड़ी है। अभी डाक्टर के यहाँ से लौट रहा हूँ। वह देख दवाई !"—उसने मेज़ पर पड़ी बोतल की ओर संकेत कर दिया।

भगतसिंह ने नरमी से पूछा—"क्या हो गया तुझे ?"

जयदेव ने गम्भीर मुद्रा में उत्तर दिया—"डाक्टर ने डिस्पेप्सिया बताया है।"

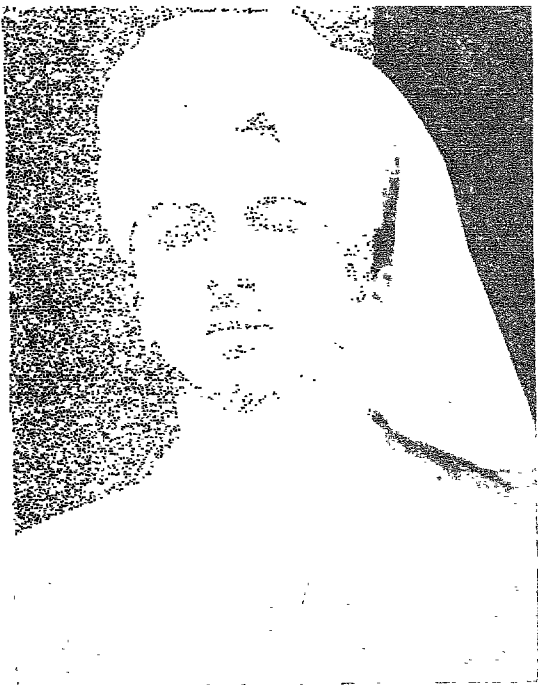
यह अंग्रेजी नाम सुन भगतसिंह चुप रह गया। सिनेमा न जा सकने की कलख तो मन में थी ही। चुपचाप डिक्शनरी उठा एक कुर्सी पर बैठ डिस्पेप्सिया का अर्थ ढूंढ़ने लगा। अर्थ देख उसने डिक्शनरी मेज़ पर पटक दी। उठ कर एक लात और जयदेव की कमर पर जमाई और बाँह से खींच उसे खड़ा कर दिया—"बदमाश ! खा खा कर बदहज़मी कर ली है और ऊपर से दवाई ठूंसेगा ?..........डिस्पेप्सिया कह कर डराना चाहता है ?"

जयदेव उलझता रहा कि मेरा मन ठीक नहीं है परन्तु भगतसिंह की दलील थीः—"तुझे बदहज़मी है। शाम को तुझे खाना नहीं चाहिये इसलिये तेरे पास जो पैसे हैं वह मुझे सिनेमा देखने के लिये दे दे। तुझे न जाना हो, मत जा।"

भगतसिंह के तत्कालीन अंग्रेजी ज्ञान का चर्चा इसलिये किया है कि अपने ही स्वाध्याय से उसने अंग्रेजी पर इतना अधिकार कर लिया था कि "असेम्बली बमकाण्ड" के समय उसने जो पर्चे फेंके थे और ट्रिब्यूनल के सामने अंग्रेजी में जो लिखित बयान उसने दिये थे, उनकी भाषा की प्रशंसा प्रायः सभी लोगों ने की थी। कुछ लोगों ने कल्पना कर ली थी कि वे बयान भगतसिंह के नहीं, वकीलों के लिखे हुये थे। इस कल्पना में कोई तथ्य नहीं है। अध्ययन भगतसिंह का स्वभाव बन गया था। जब भी देखो, उसके लम्बे बेडौल कोट की जेब में कोई न



भगतसिंह फरारी की अवस्था में



भगतसिंह नेशनल कालिज में

कोई पुस्तक रखी ही रहती थी। निराली सड़क पर चलता हो तो चलते चलते भी पढ़ता रहता।

दिल्ली-कानपुर में भगतसिंह ने कैसे दिन बताये ; यह अनुमान उसके लाहौर लौटने पर उसकी सूरत देखने से ही हो जाता था। सिर के केश पगड़ी की जगह एक मामूली से अंगोछे में ही लिपटे हुए थे। शरीर पर केवल खद्दर का बन्द गले का कोट वही कोट जो लाहौर से जाते समय कमीज के ऊपर पहने था। अब कमीज नदारद थी। पायजामे की जगह लुंगी थी। पायजामे का आसन और कोट की आस्तीनें फट जाने पर पायजामे की टाँगे कोट की आस्तीनों की जगह जोड़ ली थीं। किसी तरह शरीर ढंका हुआ था परन्तु कोट की जेब में कोई पुस्तक जरूर थी। कानपुर में भगतसिंह ने पहले कुछ दिन अखबार बेच कर ही निर्वाह किया फिर स्वर्गीय गणेशशंकर जी विद्यार्थी का विश्वास पा कर 'प्रताप' में काम करने लगा। कानपुर में रहते समय वह युक्तप्रान्त के तत्का-लीन क्रान्तिकारी विद्यार्थियों शिव वर्मा, जयदेव कपूर और विजयकुमार आदि के सम्पर्क में आ गया परन्तु क्रान्तिकारी नेताओं तक उसकी पहुँच न हो पायी थी।

युक्तप्रान्त में क्रान्ति के काम को विस्तार से चलाने की योजना बन रही थी परन्तु प्रश्न था साधनों का। गुप्त कार्यक्रम के लिये सार्व-जनिक रूप से धन एकत्र नहीं किया जा सकता था। प्रभावशाली लोगों को विश्वास में ले कर बात की भी जाती तो उन्हें यह केवल लड़कपन जंचता था कि पन्द्रह-बीस पिस्तौल लेकर ब्रिटिश साम्राज्यशाही से लड़ा जाय! धन की समस्या हल करने के लिये युक्तप्रान्त के क्रान्तिकरी दल "हिन्दुस्तान रिपब्लिकन सेना" (एच० आर० ए०) ने लखनऊ जिले में काकोरी के समीप राजनैतिक-डकैती करके रेलवे का सरकारी खजाना लूट लिया। इस प्रयत्न के दो प्रयोजन थे, एक तो दल के आर्थिक संकट का उपाय करना और दूसरा विदेशी सरकार की शक्ति को चुनौती दे कर उसकी प्रतिष्ठा पर चोट करना।

चलती गाड़ी को रोक कर जब खजाना लूटा गया तो मुसाफिरों से कह दिया गया कि "हम जनता के जानो-माल पर हाथ नहीं डालेंगे केवल सरकारी खजाना लेंगे।" काकोरी-डकैती तो हो गई परन्तु उसमें विशेष सफलता नहीं हुई। कुछ ही दिन बाद पुलिस को कुछ

सूराग़ मिल जाने से गिरफ्तारियाँ भी शुरू हो गईं। कानपुर में भगतसिंह से सम्पर्क रखने वाले लोगों ने उसे परामर्श दिया कि तुम सन्दिग्ध अवस्था में हो। पुलिस अन्धाधुन्ध गिरफ्तारियाँ कर रही है। इस लपेट में तुम्हारा भी आ जाना सम्भव है। तुम कानपुर से खिसक जाओ।

भगतसिंह कानपुर से दिल्ली लौट गया। कानपुर में पाये हुये सूत्रों के आधार पर वह दिल्ली में संगठन जमाने की चेष्टा करने लगा। पंजाब में दल पर जयचन्द्र जी अपना कब्जा जमाये हुए थे परन्तु हो कुछ नहीं रहा था। भगतसिंह पंजाब से बाहर था। सुखदेव खिन्न हो लायलपुर चला गया था। भगवतीचरण भारतवर्ष के क्रान्तिकारी आन्दोलनों का एक शृंखलाबद्ध इतिहास लिखने की चेष्टा करने लगे। भगवतीचरण के व्यक्तिगत आकर्षण के कारण हम लोग प्रायः 'ग्वाल मंडी' में उनके अपने मकान 'शिव निवास' में आते जाते रहते। भगवतीचरण का मकान सुघड़ गृहस्थ का घर था। बे मतलब शोरशराबा उन्हें पसन्द नहीं था। यूं कभी कह देने पर या स्वयं उनके निमन्त्रण दे देने पर वहाँ बढ़िया खाना मिल जाता था परन्तु वहां उस समय तक भगतसिंह के मकान की तरह धर्मशाला न बन पाई थी।

भगवतीचरण और दुर्गा भाबी का विवाह काफी कम उम्र में ही हो गया था। विवाह के समय भगवती भाई की उम्र तेरह-चौदह की और भाबी की दस ग्यारह की रही होगी। दोनों ही परिवारों के बुजुर्ग पुरानी परिपाटी के थे। उन्होंने अपनी सन्तानों का विवाह करके अपना सन्तोष कर लिया, जैसे छोटे लड़के-लड़कियाँ गुड्डे-गुड़िया का विवाह कर लेते हैं। यह भाग्य की बात थी कि दोनों ही ढंग के आदमी निकले। भाबी जब ससुराल आईं तो शायद रामायण और प्रेमसागर बाँच लेती होंगी। भगवती भाई ने कभी स्वयं ही पढ़ा कर और कभी ट्यूटर रख कर उनकी पढ़ाई का क्रम सदा जारी रखा। उनके पुत्र शची का जन्म १९२५ में हुआ था। इसके बाद वे किसी न किसी रूप में पढ़ाई-लिखाई में लगी ही रहीं। भाबी उस समय तक प्रकट रूप से सार्वजनिक कार्य में नहीं आई थीं। शायद अपने पति के लक्षण देख कर समझ चुकी थीं कि अपने जीवन के लिये वे पति और पैत्रिक जायदाद किसी भी चीज पर भरोसा नहीं कर सकेंगी। वे पंजाब यूनिवर्सिटी की हिन्दी की परीक्षायें एक के बाद एक पास करती रहीं। १९२६ में पंजाब यूनिवर्सिटी की "प्रभाकर" की

परीक्षा हम दोनों ने साथ-साथ ही दी। यह परीक्षा पास कर वे लाहौर के 'महिला कालेज' में हिन्दी की लेक्चरार बन गईं। सार्वजनिक आन्दोलन में सामने कभी न आने पर भी राजनैतिक कार्य और विशेष कर क्रान्तिकारी गुप्त संगठन के प्रति उनका अनुराग गूँगे के गुड़ जैसा था; अर्थात मुँह से कुछ बोले बिना उसके लिये सब कुछ करने को तैयार रहतीं। वास्तविकता यह थी कि वे मन ही मन ईर्षा से चुप रह जातीं, क्योंकि भगवती भाई सुशीला दीदी को कवि, त्यागी और प्रतिभा सम्पन्न समझ उनसे तो क्रान्ति की बातें करते परन्तु भाबी को 'देहाती बहू' समझ इन बातों का चर्चा नहीं करते। भाबी होंठ दबाये सिर खुजा कर रह जातीं, देखा जायगा!

दल का काम

सन् १९२६ के आरम्भिक दिनों में सुखदेव ने कई बार बात साफ कर लेनी चाही कि मेरा विचार क्या है? मेरा जवाब था—"मैं तैयार हूँ जो तुम कहो।"—सुखदेव खूब समझता था कि दूसरे के कहने पर सब कुछ करने के लिये तैयार होने का अर्थ बहुत अधिक नहीं हो सकता। जरूरत तो थी इस बात की कि मैं दल के अंग के रूप में स्वयं सोचूं कि क्या करना चाहिए, और सोची हुई बात को क्रियात्मक रूप देने की चेष्टा करूँ।

"जो तुम कहो, मैं तैयार हूँ"—का अर्थ सुखदेव ने यही समझा कि मैं स्कूल में काम करते हुए अथवा दूसरी तरह लिखने पढ़ने में लगे रह कर केवल सहायक ही बना रहना चाहता हूँ, अपनी ओर से जिम्मेवारी ले कर कदम आगे नहीं बढ़ाना चाहता। उसका अनुमान ठीक ही था। मुझे उस समय भी यह विश्वास हो रहा था कि मैं अपनी व्यक्तिगत शक्ति को आन्दोलन के क्रियात्मक काम में लगाने की अपेक्षा लेखक के तौर पर इस काम का क्षेत्र और पृष्ठभूमि तैयार करने में अधिक उपयोगी हो सकता हूँ। मेरे इस अहंकार में अपने परिवार के प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा करते रहने के अवसर के लोभ की भी भावना छिपी रही होगी; या मैं संकट से बचा रहना चाहता होऊँगा; इस बात से भी कतई इन्कार नहीं किया जा सकता।

सुखदेव और भगतसिंह को मेरा यह ढंग पसन्द नहीं था। चिढ़ाने

के लिये उन्होंने मुझे कहानी लेखक या 'कलाकार' कहना शुरू कर दिया। सुखदेव ने कहा और कुछ नहीं तो मैं संगठन के लिए कुछ आदमी ही दूँ। नेशनल स्कूल के दो तीन विद्यार्थी और अध्यापक मुझे दल के काम के योग्य जँचे। मैंने सुखदेव से इनका परिचय करा दिया। गुप्त संगठन के काम में तर्क द्वारा प्रत्येक बात का महत्व समझा देने का अवसर प्रायः नही रहता। उदाहरणतः सुखदेव ने कोई पत्र लिख, उस पर टिकट लगा कर किसी नये साथी को दे कर आदेश दिया कि साइकिल से लाहौर छावनी के स्टेशन पर जाओ और इस पत्र को लाहौर की ओर आने वाली किसी ट्रेन के डाक के डिब्बे में डाल देना। साधारणतः पढ़ा-लिखा आदमी लिफाफे पर लिखे पते को पढ़ेगा। यह देख कर कि पत्र लाहौर के ही किसी मुहल्ले में किसी व्यक्ति के नाम है; पत्र को इतनी दूर जा कर डाक में छोड़ने की उपयोगिता पर तर्क करने लगेगा। ऐसे आदमी सुखदेव को नापसन्द थे। वह उन्हें नामन्जूर कर देता। अपने संगठन के सैद्धान्तिक पहलू से सहानुभूति पैदा किये बिना इस प्रकार या इससे बहुत अधिक कष्ट सहने के लिये किसी को तैयार कर लेना कैसे सम्भव होता?

कई छोटी-छोटी बातों के परिणाम बहुत बड़े होते हैं। उपरोक्त उदाहरण भी वैसा ही है। मैंने कई बार सोचा है कि हमारे सशस्त्र क्रान्ति के आन्दोलन में; प्रत्येक मुकद्में में बहुत से व्यक्ति मुखबिर बन जाते रहे हैं। इसकी तुलना में देखा जाय भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के उदाहरण को। पिछले वर्षों में कम्युनिस्ट पार्टी के बहुत से लोगों पर कई ऐसे मुकद्मे चलाये गये। कैय्यूर, तैलंगाना आन्ध्र, मलाबार आदि में बहुत से लोगों को फाँसी की सजायें हो गई। कम्युनिस्ट फरारों की संख्या तो देश भर में हजारों तक पहुच चुकी है। इन मुकद्मों में फाँसी और कालापानी सामने देख कर भी लोग मुखबिर नहीं बने, न उन्होंने फरार साथियों का भेद पुलिस को दिया। झाँसी के एक मुकद्में में एक कम्युनिस्ट के मुखबिर बन जाने की अफवाह सुनी थी। उसने भी बाद में या तो आत्म-ग्लानि से या झूठी अफवाह से आतंकित हो कर आत्म-हत्या कर ली। इस तुलना में कांग्रेस के सत्याग्रहियों और रा० स० स० के कार्यकर्ताओं का तो जिक्र ही व्यर्थ है। इन लोगों में जेल से माफी मांग कर लौट आने वालों की संख्या तो हजारों तक पहुँची है।

प्राणों की बाजी लगाकर आन्दोलन में सम्मिलित होने वाले शिक्षित मध्यम वर्गीय क्रान्तिकारियों की अपेक्षा कम्युनिस्ट पार्टी के निम्नवर्ग के किसान-मजदूरों में इतनी अधिक दृढ़ता पाई जाने का कारण क्या है ? इस भेद का रहस्य इस बात में है कि यह क्रान्तिकारी एक रहस्यमय आदर्श की प्रेरणा से चलते थे। उनके विश्वास का आधार कोई ठोस आदर्श नहीं था। दूसरी ओर कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं के सामने आदर्श त्याग के रूप में नहीं बल्कि जीवन की ठोस मांग के रूप में रहता है। वे आदर्श को केवल विश्वास के आधार पर नहीं बल्कि निजी अनुभव से अपनाते हैं। वह कर्तव्य को आज्ञा पालन के लिये नहीं बल्कि अपनी आवश्यकता मान कर पूरा करता है। पीछे हट जाने का कोई बहाना उसके पास नहीं रहता विपरीत इसके क्रान्तिकारी जब भी मुखबिर बनते, अपनी कायरता को छिपाने के लिये उनके सामने बहाना बना रहता कि देशभक्ति के आवेश में उन्हें गलत रास्ते पर बहका लिया गया था। वे अपने व्यवहार के लिये जनता के सामने अपना कोई उत्तरदायित्व नहीं समझते थे।

सुखदेव को सिद्धान्तों की लम्बी-लम्बी बहसें पसन्द नहीं थीं। उसकी और दूसरे क्रान्तिकारियों की दृष्टि में सिद्धान्त स्पष्ट था:— "देश की आज़ादी।" हमारे राजनैतिक आन्दोलन के अनुभव ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि 'देश की आज़ादी' कोई स्वतः स्पष्ट वस्तु नहीं है; आज "देश की आजादी" गीली मिट्टी का एक लौंदा बना हुआ है। जो चाहता है अपनी इच्छा से इसे मनमाना रूप देने की चेष्टा कर सकता है।

सुखदेव के ऐसे व्यवहार का एक कारण यह भी हो सकता था कि उस समय एक बहुत बड़ा काम हाथ में लेने की तैयारी की जा रही थी। उस काम को पहले से बता देना और उसकी रूपरेखा सभी लोगों पर प्रकट कर देना खतरे से खाली नहीं था। जरूरत ऐसे आदमियों की थी जो दल के नेता के हुक्म से यह पूछे बिना कि कहाँ जा रहे हैं, बम और पिस्तौल लेकर चलने को तैयार हों और घटना के समय और स्थल पर आज्ञा का अक्षरशः पालन कर सकें। सुखदेव में इस प्रकार की मनोवृत्ति शायद जयचन्द्र जी के उदाहरण से आ गई थी या यह उसकी अपनी झोंक थी। जयचन्द्रजी ने दुस्साहस के किसी काम में स्वयं

कभी हाथ नहीं डाला परन्तु किसी भी काम का आदेश देने पर यदि कार्यकर्त्ता आदेश का कारण और महत्व समझना चाहे तो वह उन्हें गवार न था। वे इसे क्रान्तिकारी अनुशासन की कमी समझते थे।

अवसर पड़े बिना यह जान लेना बहुत कठिन था कि कौन व्यक्ति समय पर साहस दिखायेगा और कौन कायरता। क्रान्तिकारी कामों (एक्शन)* में सबसे अधिक महत्व इसी बात का था कि साथी समय पर बिदक न जायें। बाद में ऐसे कामों की जिम्मेवारी अपने कन्धों पर आने पर ऐसे साथियों के व्यवहार से स्वयं मैंने ही बहुत कठिनाई अनुभव की है। नेशनल स्कूल के बोर्डिंग से जिन व्यक्तियों के नाम मैंने सुखदेव को दिये उनके साहस की परीक्षा भी कर लेनी चाही। इसके लिये मैंने एक प्रपञ्च रचा। उन दिनों मैं स्कूल के बोर्डिंग हाउस में ही था। एक रात सोने से पहले बोर्डिंग की दोमंजली इमारतों के बीच की इकमंजिली इमारत के साथ एक मजबूत सी बल्ली टिका कर रख दी। आधी रात में उठ मैंने खाकी कुर्ता और नेकर पहन लिये। सोते समय सफेद कुर्ता पायजामा पहना हुआ था। कपड़े बदल कर मैं दोमंजिली इमारत की पहिली मंजिल के बरामदे से इकमंजिली इमारत की छत पर उतर गया। यहां पहुँच जाना कुछ कठिन न था। सब लोग इसी छत के सामने नीचे सोये हुये थे। इस छत से मैंने सोये हुये विद्यार्थियों और अध्यापकों पर कंकर फेंकने शुरू किये।

"चोर! चोर!" का शोर मच गया। कुछ लड़के भय से चिल्लाने लगे। कुछ ने धमकाया—"ठहर अभी आते हैं।"

नीचे जाग पड़े लोगों को अपने आपको दिखा कर, अंधेरे और दूरी के कारण पहचाने जाना तो सम्भव न था, मैं दूसरी ओर लगी बल्ली के सहारे उतर गया और बल्ली खींच ली। ऊपर चढ़ गये लोग टंगे रह गये। बल्ली के सहारे बिना उतर आना कठिन था। नीचे से मैंने उन पर फिर पत्थर फेंकने के लिये हाथ हिलाया।

ऊपर चढ़ने वाले आदमियों में से तीन व्यक्ति साहस करके मुझे पकड़ने के लिए छत से कूद पड़े और मेरी ओर दौड़े। यह देख मैं बोल पड़ा और उन लोगों ने मुझे पहचान लिया। कूद पड़ने वालों में से एक

* राजनैतिक डकैती या कत्ल।

जयगोपाल था। दूसरे दो अध्यापक, एक मा० मेहरचन्द और दूसरे चिरंजीलाल थे। मा० चिरञ्जीलाल क्योंकि साइन्स मास्टर थे, इसलिए साहसी होने पर भी हर बात को तर्क से समझना चाहते थे। सुखदेव की अनुशासन की कसौटी पर वे पूरे नहीं उतरे। मा० मेहरचन्द में भी साहस की कमी न थी परन्तु वे आवश्यकता से अधिक गम्भीर और अपनी दूसरी जिम्मेदारियाँ भुला देने के लिये तैयार न थे। रह गया केवल जयगोपाल।

जयगोपाल ने ढाई वर्ष तक जिस कठिनाई में बिना तर्क किये सैनिक प्रवृत्ति से अनुशासन निभाया, वैसा कम ही लोग कर सकेंगे। सुखदेव और भगतसिंह दोनों ही मुझ से उसका जिक्र करते समय उसे "सच्चा रत्न" बताते थे। गिरफ्तारी के बाद जयगोपाल मुखबिर बन गया तो मुझे गहरी व्यथा अनुभव हुई। खास तौर पर इसलिये कि उसे मेरा चेला कहा जाता था। उस समय हम लोग जयगोपाल को गोली मार देने का अवसर खोज रहे थे। भुसावल में उस पर गोली चलाई भी गई। लेकिन मुझे विश्वास था कि यदि सुखदेव स्वयम बयान न दे देता तो जयगोपाल भी बयान न देता। सुखदेव ने बयान देकर भी मुआफी न मांगी, यह उसकी झोंक थी। जयगोपाल ने मूल्य में मुआफी ले ली, यह उसकी सामान्य बुद्धि का परिणाम था।

लगभग इन्हीं दिनों अपने दूसरे चेले से मेरा पहला परिचय हुआ, यह था इन्द्रपाल। इन्द्रपाल के कारनामे बहुत विचित्र रहे हैं। उससे परिचय की कहानी भी कम विचित्र नहीं। भगतसिंह के बहुत दिन तक लाहौर से बाहर रहने के कारण मैं उसका मकान छोड़ "परीमहल" में नये चालू हुये 'हिन्दू-संगठन' के दफ्तर में आ टिका था। "हिन्दू-संगठन' उर्दू का साप्ताहिक था। भाई परमानन्द जी की संरक्षकता में चल रहा था। भाई परमानन्द जी की राजनीति शनैः शनैः साम्प्रदायिकता की ओर बढ़ रही थी। हिन्दू-संगठन के सम्पादक थे कृष्णादास भल्ला। कृष्णादास जी से पहले ही परिचय था। वे कुछ दिन तक फिरोजपुर जिला कांग्रेस कमेटी के सेक्रेटरी थे, दो बरस पहले वे भी 'नेशनल कालिज' में ही आ गये थे और हिन्दू राष्ट्रीयता की ओर आकर्षित हो चुके थे। इनका मुझ पर बहुत विश्वास था। 'हिन्दू-संगठन' के दफ्तर में आकर रहने का अभिप्राय रहने के लिये मुफ्त जगह पा लेना और

इस संगठन में अपनी पहुँच बना लेना था। इस समय हिन्दू-सगठन की नीति कांग्रेस द्वारा मुसलमानों को फुसलाने की नीति के विरोध की थी। इस नीति का तत्व था कि अंग्रेज से बड़ा शत्रु मुसलमान है; हिन्दुओं को अंग्रेजों का पक्षपात पाना चाहिये नहीं तो अंग्रेज हिन्दू की अपेक्षा मुसलमान को अपना लेगा। जिससे व्यवसाय और नौकरी के क्षेत्र में हिन्दू मध्यम वर्ग की भयंकर आर्थिक हानि होगी। संगठन का क्रियात्मक रूप हिन्दू युवकों में स्वास्थ्य सुधार की प्रवृत्ति और साहस पैदा करना था। 'परी महल में' प्रातः ही सैनिक व्यायाम (ड्रिल) सिखाया जाता। गतका-फरी, बाना और लाठी आदि की शिक्षा भी दी जाती। मैंने नेशनल कालिज में इन चीजों का काफ़ी अभ्यास कर लिया था। मैं संगठन के अखाड़ों में ऐसी शिक्षा देने में सहायता देता था। इसके अतिरिक्त अपने लेख 'हिन्दू-संगठन' साप्ताहिक में भी देता रहता; कुछ अपने नाम से और कुछ नाम बदल कर। मैं हिन्दी लिपि में ही लिखता था; मुहाविरा और शब्द प्रायः उर्दू के इस्तेमाल करता। उसे उर्दू लिपि में उल्था कर देना कठिन नहीं था। मेरे लेखों का लक्ष्य था, कि हिन्दू राष्ट्रीयता की प्रधान शत्रु विदेशी सरकार है। मुझे यह सुविधा कृष्णलाल जी के कारण ही मिली थी। इन दिनों वे 'कृष्ण जी' पुकारे जाने लगे थे।

इन्द्रपाल

'हिन्दू-संगठन' साप्ताहिक उर्दू में प्रकाशित होता था। उसकी किताबत के लिये हिन्दू कातिब ही अधिक उपयोगी समझा गया। यह कातिब था मंगतराम; दुबला-पतला, छरहरा बदन, साँवला सा रंग और ऊँचा माथा। तीखी आँखें, कमर में एक लुंगी, कन्धों पर कमीज और सिर पर छोटी सी पगड़ी बांधे वह किताबत करने दफ्तर में आता था।

यह मालूम होने पर कि मंगतराम कांगड़े जिले का है, मेरा उसका परिचय और बातचीत बढ़ गई। वह वरनाक्यूलर मिडिल पास था। जन्म का ब्राह्मण। उसे केवल मिडिलची समझ कर मैंने आरम्भ में कोई राजनैतिक बात नहीं की। मेरी और कृष्ण जी की बहस में वह मेरी बातों का समर्थन करने लगा तो अनुमान हुआ कि वह साम्प्रदायिक संकीर्णता से मुक्त है।

मंगतराम किताबत करते समय रोशनी के लिये खुले में बैठना पसन्द करता था। उसने दो मंजिले पर सेहन में बने बेंचनुमा चबूतरे पर बैठने की जगह बना ली थी। क्वार के दिन थे। धूप कड़ी होने पर वह भीतर आ जाता था। यथा। सम्भव वह लैम्प या बिजली के प्रकाश में भी किताबत न करता। अंधेरा होते ही घर लौट जाता, सुबह चाहे जल्दी ही आना पड़े।

एक दिन संध्या समय मैं बहुत देर में दफ्तर से लौटा, दस बज गये होंगे। देखा कि मंगतराम अन्धेरे और ओस में अपनी किताबत की जगह जमा बैठा है।

"अबे मंगतू अभी तक बैठा है?"—मैंने पुकारा—"अन्धेरे में कैसी किताबत हो रही है? अन्दर रोशनी में आजाओ। बाहर ओस है।"

"यों ही बैठा हूँ"—उसने टाल दिया। मैंने भी उस ओर ध्यान न दिया। किसी काम से फिर बाहर चला गया। रात ग्यारह-साढ़े-ग्यारह बजे लौटा तो देखा कि वह फिर वैसे ही बैठा है। इस बार जरा विस्मय से प्रश्न किया—"अरे तुम्हें क्या हो गया है? कैसे बैठे हो?"

"अच्छा लग रहा है खुले आसमान के नीचे"—मंगतराम ने टाल दिया। मैंने मजाक किया—"अरे हंदे खाने वाले क्या तपस्या कर रहा है? क्या वरदान चाहता है?"

मैं उसे हंदे (भीख) खाने वाला या मंगतू कह कर पुकारता था। वह मुझे तम्बाकू बेचने वाला कहता था क्योंकि कांगड़े में साधारण स्थिति के खत्री छोटी सी दुकान पीठपर बांधे फेरी किया करते हैं और तम्बाकू उनके पास जरूर रहता है।

बाहर जा कर उसकी बाँह पर हाथ रखा, देखा—उसे बुखार है। उसे मैं जबरदस्ती भीतर पकड़ लाया और अपने बिस्तर पर लिटा दिया। बाजार से गरम दूध लाकर पीने को दिया और अपनी पहाड़ी बोली में समझाया—"तुम्हें बुखार था तो पहले कहा होता। यों खुले आसमान के नीचे बैठे हत्या क्यों ले रहे हो? आखिर तुम्हें क्या दुःख है? मैं तेरा और कुछ नहीं तो तेरे जिले का तो हूँ।"

"नहीं कुछ नहीं"—उसने टाल दिया। कृष्ण जी से एक कम्बल माँग

मैं फ़र्शी दरी पर ही सो गया। दूसरे दिन सुबह फिर उसकी कुछ तीमारदारी की। डाक्टर के यहाँ दिखा देने की सलाह दी। उसने कुछ करना आवश्यक न समझा। बुखार उसका उतर गया परन्तु वह बहुत चुपचाप बना रहा। मैंने भी इस बारे में कोई जिज्ञासा नहीं की।

दो एक दिन बाद स्वयं ही उसने बात की—"मैं तुम्हें पढ़ा लिखा बी० ए० पास आदमी समझता था! यह बताओ, तुम बेवकूफ हो या जोगी?"

उसका अभिप्राय न समझ पूछा—"क्यों?"

"वह बात याद है?'—उसने पूछा। तब याद आया :—आठ दस दिन पहले उसे कड़ी दोपहर में धूप से जलते चबूतरे पर किताबत करते देख मुझे विस्मय हुआ था। गौर किया तो मालूम हुआ वह बगल के ऊंचे मकान की खिड़की में बैठी किसी लड़की से ताक-झांक कर रहा है। मैंने उसे मज़ाक में डांट दिया था—"साले, क्या हड्डियों में दर्द होने लगा है?....कुछ सेंक-सांक चाहता है?"

इस घटना की याद दिला कर उसने बात सुनाई कि वह बहुत दिन उस लड़की से ताक-झाँक करता रहा। पहले तो लड़की ने थू-थू करने के संकेत से मंगतराम का अपमान कर छुट्टी ले लेनी चाही। मंगतराम यह समझ न सका कि संकेत थूकने का था या चूमने का! वह प्रणय के मोर्चे पर डटा रहा। लड़की ने तिरस्कार से पत्र में कंकर लपेट कर हमारी छत पर फेंका। मंगतराम ने धड़कते हुये हृदय से वह पत्र उठा कर देखा तो लिखा था—"लानत है। फिटेमूं (फिटकार)। मुझे मत घूरा करो! मैं तुम से परेशान हूँ। क्या तुम्हारे घर में मां बहिन नहीं है?'

उत्तर देना मंगतराम के लिये काफी जोखिम का काम था। उत्तर ऐसे ही समय फेंका जाना चाहिये था जब लड़की छत पर हो परन्तु उसके घर का दूसरा कोई आदमी साथ न हो। मंगतराम का उत्तर था:—"मैं शौक नहीं, मुहब्बत कर रहा हूँ।" और वही पुराना शेर—

ज़ेरे दीवार पड़े हैं तेरा क्या लेते हैं;
देख लेते हैं तपिश दिल की बुझा लेते हैं।

मंगतराम ने एक ही प्रार्थना की थी कि दिन भर में एक बार दीदार हो जाना चाहिये। वह नित्य दर्शन न पा लेगा तो अपनी जगह से

उठेगा नहीं। नाम की जगह उसने लिखा था—तुम्हारा 'आशिक सादिक' (सच्चा प्रेमी)।

कुछ दिन की खींचातानी के बाद दोनों में समझौता हो गया कि एक दूसरे को देख लेने की 'पाक मुहब्बत' चलती रहे। इस लड़की का नाम 'विलायत' था। प्रणय के आवेश में लड़की ने अपना नाम भी बता दिया था।

जिस दिन मंगतराम ने धूप और ओस में बैठ कर ज्वर चढ़ा लिया था, उससे पहली शाम उसे परेशानी से भरा विलायत का पत्र मिला था। विलायत ने अपनी परेशानी बताई थी कि उसकी मां और भाई-बहनों को सन्देह हो गया है। ""अब मैं सामने आ कर अपनी आंखें ठंडी न कर सकूँगी। 'इश्क सादिक' (सच्चे प्रेम) के नाम पर विलायत ने दुहाई दी थी कि मुझे देखने के लिये अब ऐसे मत बैठना। आखिर में लिखा कि वह उसे भाई समझती रही है और बताया कि उसने सुना और पढ़ा है कि हिन्दू लोग भाई पुकार लेने वाली औरत की इज्जत के लिये जान दे देते हैं। वह भी अपने आशिक-सादिक से ऐसी ही उम्मीद करती है। मंगतराम विलायत के पत्र का उत्तर देने के लिये अगले दिन सुबह ही आ बैठा था। वह दिन भर कार्तिक की धूप में, बिना खाये पीये दूसरी छत की ओर देखता बैठा रहा। विलायत न छत पर आई न खिड़की से दिखाई दी। उस दिन रविवार था, सम्भव है पिता और भाइयों के घर पर रहने का डर रहा हो या वह कहीं नाते-रिश्ते में चली गई हो।

मंगतराम उसे यही बताना चाहता था कि तुमने मुझे भाई पुकारा है तो मैं बहिन के लिये सब कुछ करने के लिये तैयार हूँ। वह इस पाप की लज्जा से मरा जा रहा था कि जो लड़की उसे भाई समझ रही थी, उससे इश्क कर रहा था। उसकी यह कहानी सुन कर मैंने समझाया—तुम इतने ईमानदार और लगन के आदमी हो। तुम्हारी जिन्दगी क्या तमाशबीनी पर कुर्बान हो जाने के लिये है? कौन जाने विलायत भोले-पन में बहिन बन रही थी या स्वयं ही इश्क कर रही थी, जो भी हो तुम बेवकूफ तो बने!"

वह चुप सुनता रहा। उसे इस बात का कुछ-कुछ आभास हो

चुका था कि मैं किस झोंक में लगा हुआ हूँ। उसे मेरे प्रति श्रद्धा मिला विश्वास हो गया था। अपने प्रति वह ग्लानि अनुभव कर रहा था। मन की ग्लानि का बोझ हलका करने के लिये और भविष्य में जीवन का मार्ग बदलने के निश्चय से वह प्रायश्चित के तौर पर मुझे अपनी बातें सुनाने लगा।

वह बहुत ही खुशखत कातिब था। अखबारी काम के साथ-साथ बड़े-बड़े पोस्टर भी लिखता था। परिचय होते ही उसे मैंने हिन्दी के अक्षर ड्राइङ्ग से लिखने सिखा दिये थे। हिन्दू संगठन सम्बन्धी बड़े-बड़े इश्तेहार आधे हिन्दी में लिखे जाने लगे थे। उसकी कद्र और भी बढ़ गई थी। उस समय के निरख और उसकी आवश्यकताओं के विचार से उसकी आमदनी बहुत काफी थी। घर से वह अकेला आया था। विवाह उसका अभी हुआ नहीं था। उसे हर सप्ताह २०-२५ रुपये मिल जाते थे। कारीगर पेशा लोगों की संगत के कारण वह उनकी सभी लत्तें सीख चुका था। अर्थात् मौके मौके खूब शराब पी लेना, कभी चकले का भी चक्कर लगा लेना।

हम लोग आपस में अधिक मिलने जुलने लगे। मैंने उससे शायद ऐसी बातें की कि जीवन का ऐसा भी मार्ग हो सकता है कि आदमी कष्ट उठाता हुआ भी सन्तोष पाये। वह मेरा बहुत ही अन्तरङ्ग मित्र या भक्त बन गया। भक्ति के योग्य मुझ में कोई बात नहीं थी परन्तु अपने प्रति घृणा अनुभव होने से वह मुझे बहुत भला आदमी समझ रहा था। मैंने उससे शायद ऐसी बातें भी कहीं कि उद्देश्य के लिये कष्ट उठाना मामूली सन्तोष से कहीं ऊँची चीज है। उसे मैंने क्रान्तिकारियों के हंसते-हंसते बड़े से बड़े संकट सहने और फांसी पा जाने की कहानियाँ भी सुनाईं।

मंगतराम का जीवन बिलकुल बदल गया। यों हंसी और मज़ाक वह अब भी करता था परन्तु पुरानी लतें एक दम छोड़ दीं। मैं उस समय सिगरेट भी कभी नहीं पीता था। मंगतराम ने भी शराब और सिगरेट बिलकुल छोड़ दिये। बेमतलब बकवास भी न करता। उसे यशपाल नाम पसन्द था। उसने भी अपना नाम बदल डाला। मंगतराम की जगह इन्द्रपाल बन गया।

एक रोज उसने अपने कष्ट सहन की परीक्षा करनी चाही। कार्तिक

के दिन थे, जब मच्छरों की भरमार रहती है। वह सन्ध्या समय रावी के किनारे जंगल में जा बैठा। जगह-जगह पानी सड़ रहा था और कमर तक ऊँचे-ऊँचे घास। मच्छर क्या डांस घटाओं के रूप में उड़ रहे थे। ऐसे डांस, जिनके काटने से जानवर भी तड़प उठे। इन्द्रपाल कपड़े उतार, एक लंगोटा बाँध पालथी मार घास में बैठ गया कि कितने डांस और मच्छर काट सकते हैं! उसने अपनी परीक्षा की कसौटी यह तै की थी कि अपने शरीर को मच्छरों से बचाने के लिये हाथ न हिलायेगा और नाही सूर्य्योदय से पहले पालथी से उठेगा। वह इस परीक्षा में पूरा उतर गया। मैंने उसे समझाने की बहुत कोशिश की कि इन बातों से कोई लाभ नहीं परन्तु उसे सनक सवार थी। वह कष्ट सह कर आत्मविश्वास प्राप्त करना चाहता था। मैंने उसे हिन्दी पढ़ानी शुरू की, चाहता था वह अंग्रेजी भी पढ़े परन्तु उसने इन्कार कर दिया—"समय बरबाद करने की जरूरत नहीं"। मैंने उसे क्रान्तिकारी पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ पुस्तकें स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ की भी दीं। वह विवेकानन्द और रामतीर्थ की ही पुस्तकें अधिक पढ़ने लगा। उससे दल के संगठन को बढ़ाने की बात की तो उसने साफ़-साफ़ जवाब दे दिया—"अपनी जिम्मेवारी मैं ले सकता हूं किसी दूसरे की नहीं।"

एक दिन उसे फिर अपनी परीक्षा करने की सूझी। देशी शराब की चौथाई बोतल ला कर पी ली। जेब में रुपये डाल 'टिब्बी' बाजार जा पहुँचा। वहाँ ऊँचे दरजे की, अपने खयाल में बहुत खूबसूरत वेश्या के पास गया। उससे तय किया कि सारी रात वहीं रहेगा। वेश्या ने इन्द्रपाल के मोटे मैले कुर्ते-लुंगी की ओर विस्मय से देखा और दस रुपये मांगे। इन्द्रपाल ने दस रुपये दे दिये। रात का सौदा कर इन्द्रपाल जा पलङ्ग पर लेट गया। बेचारी वेश्या ने मुंहमाँगी रकम हलाल करने के लिये अपना कर्तव्य निभाने की सभी चेष्टायें कर लीं परन्तु इन्द्रपाल समाधिस्थ पड़े रहे। नींद आ जाने पर वेश्या सो गयी। जागने पर उसे फिर अपने कर्तव्य का खयाल आया; पर इन्द्रपाल अप्सराओं से पराजित होने वाला ऋषि न था। आखिर वेश्या को पूछना ही पड़ा—"तो फिर तुम तुम आये किस लिये थे?"

इन्द्रपाल ने ईमानदारी से आने का कारण भी बता दिया।

इन्द्रपाल ने मुझे बताया कि वेश्या भी चुप रह गई। कुछ देर गरदन

झुकाये सोचती रही और फिर बोली:—"तुम जब चाहे आ सकते हो। लेने-देने की कोई बात नहीं। चाहो तो अपने रुपये भी वापस ले लो।"

जब इन्द्रपाल सुबह वेश्या के यहां से चलने लगा तो वेश्या ने घुटने टेककर उससे प्रार्थना की—"मेरे लिये अल्ला से दुआ करना।"

यह बात सुना कर इन्द्रपाल स्वयं ही हंस पड़ा—"उस साली ने मुझे कोई फ़क़ीर या औलिया समझ लिया।"

फ़क़ीर या औलिया समझ लिये जाने पर इन्द्रपाल को हँसी भी आई और करतूत उसकी मैं कह ही चुका हूँ। दूसरे के अंध विश्वास पर हंसी आना और स्वयं कष्ट सहन से आत्मिक उद्धार का यत्न भी करना! मेरा ख़याल है कि शिक्षा के अभाव में प्रवृति तर्क की ओर हो जाने और इस तर्क को अपनी अटूट लगन के साथ सटा लेने के कारण उसका व्यवहार सनकियों जैसा हो जाता था।

कृष्ण जी को "हिन्दू संगठन" के कार्य से सन्तोष नहीं हो रहा था। वे हिन्दू जाति और मानवता का उद्धार इससे बड़े परिमाण में करना चाहते थे। इसलिये वे 'हिन्दू-संगठन' को छोड़ गये और सन्यासी बन गये। उनके चले जाने पर मैंने और इन्द्रपाल ने भी वहाँ से डेरा उठा लिया।

उस समय इन्द्रपाल को रावलपिण्डी में किताबत का काम मिल सकने की सूचना मिली। मैंने उसे सलाह दी कि तुम रावलपिण्डी चले जाओ। मैं भी वहाँ कभी-कभी आया करूँगा। रावलपिण्डी सरहद के समीप है, हथियारों की यातायात में कुछ सुविधा रहेगी।

इन्द्रपाल रावलपिण्डी में बहुत दिन रहा। रावलपिण्डी में सुखदेव ने जयगोपाल और हंसराज वोहरा को भेज कर अलग से वहाँ संगठन का प्रयत्न आरम्भ किया था। इन्द्रपाल का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं कराया गया। इन्द्रपाल के सम्पर्क में जो लोग आये उनका पहिले लाहौर षड्यंत्र केस में कहीं जिक्र नहीं आया परन्तु दूसरे लाहौर षड्यन्त्र केस में रावलपिण्डी के कितने ही आदमी इन्द्रपाल की बदौलत शामिल थे।

इस समय लाहौर के हमारे संगठन में सनसनी मालूम हो रही थी। भगतसिंह ने कानपुर, दिल्ली में सम्पर्क स्थापित कर लिये थे दल एक बड़े काम की तैयारी में था। यह काम था काकोरी षड्यंत्र के मामले

में गिरफ्तार क्रान्तिकारी बन्दियों को छुड़ाने की योजना। उसके लिये कुछ आदमी पंजाब से भी जाने वाले थे परन्तु सबसे बड़ी जरूरत थी पंजाब से रुपया भेजने की। युक्तप्रान्त में काकोरी के मामले की गिरफ्तारियों के कारण दल काफी कमजोर हो चुका था। पंजाब में दल के सूत्र मुख्यतः जयचन्द्र जी संभाले हुये थे। भगतसिंह अधिकांश में दिल्ली और कानपुर आता जाता रहता। लाहौर में सनसनी तो बहुत थी परन्तु यह पता न चलता था कि हो क्या रहा है? भगवती भाई इस विलम्ब से बहुत परेशान हो रहे थे। वह चाहते थे कि जल्दी ही कुछ हो। खास खास अवसरों पर वे अपने पास से काफी रुपया भी दे चुके थे। भगवती भाई का आग्रह था कि क्या हो रहा है, अड़चनें क्या हैं; यह काम करने वालों को पता लगना चाहिये! जयचन्द्र जी ऐसी नोक-झोंक पसन्द नहीं करते थे। भगवती भाई निष्क्रियता के अनुशासन से ऊब गये थे। उन्होंने खुल्लमखुल्ला कह दिया कि अगर जयचन्द्र जी कुछ नहीं करते हैं तो हमें जो करना होगा अलग से करेंगे। बिना कुछ जाने केवल प्रतीक्षा ही करते रहने के लिये हम तैयार नहीं।

जयचन्द्र जी को भगवती भाई से आशंका होने लगा। उसके कारण स्पष्ट थे। भगवती भाई का प्रभाव राजनैतिक क्षेत्र में बढ़ रहा था। पंजाब के पुराने क्रान्तिकारियों से भी उनके सम्बन्ध थे। वे सन् १९२२ में सत्याग्रह आन्दोलन की व्यर्थता देख, उस समय पञ्जाब में गुप्त रूप से स्थापित हुई "कम्युनिस्ट पार्टी" से अपना सम्पर्क जोड़ चुके थे। "कम्युनिस्ट पार्टी" कहने से गलतफ़हमी की बहुत बड़ी गुंजाइश है। आजकल की "हिन्दुस्तानी कम्युनिस्ट पार्टी" से जो लगभग १९२८ में 'मेरठ षड़यंत्र' के समय से जनता के सामने आई है, उस पार्टी का कोई सम्बन्ध नहीं था। ना ही १९२४ के "कानपुर बोलशेविक षड़यंत्र" के मामले से इनका कोई सम्बन्ध था। पंजाब के कुछ साहसी लोग थे जो रूसी क्रान्ति के कुछ दिन बाद ही अफ़गानिस्तान के रास्ते रूस पहुँचे थे। उनमें से कुछ ने लौट कर "कम्युनिस्ट पार्टी" बना ली थी। यह लोग रूस से कुछ साहित्य और थोड़ा बहुत धन मँगा कर भारत में समाजवादी क्रान्ति कर देने की बात सोचते थे। मजदूरों और किसानों के संगठित आन्दोलन से इनका कोई सम्बन्ध नहीं हो पाया था। यह लोग रूस या योरप से आये साहित्य को गुप्त रूप से

बाँटते रहते। आन्दोलन में कोई क्रम न होने के कारण इनके हाथ पड़ने वाला रुपया भी प्रायः इधर-उधर बरबाद हो जाता। भगवतीचरण पहले इन्हीं लोगों के सम्पर्क में थे। लाहौर में डाक और रुपया पेशावर से भगवती भाई के ही पते पर आता था। इन लोगों के प्रयत्नों में कोई व्यवस्था न देख भगवती भाई ने अपने आपको व्यर्थ में फँसा देना उचित नहीं समझा और इन लोगों से सम्पर्क विच्छेद कर लिया। अपने पते पर इनकी डाक और रुपया मँगाने से भी इन्कार कर दिया। ये कम्युनिस्ट कहे जाने वाले लोग भगवती भाई से नाराज़ थे ही।

'काकोरी षड़यंत्र' के क्रान्तिकारी बन्दियों को जेल से छुड़ाने की आयोजना के लिये जयचन्द्र जी लाहौर में रुपया इकट्ठा कर रहे थे। सुशीला दीदी उस समय 'कन्या महा विद्यालय-जालन्धार' की स्नातिका बन कर वहीं पढ़ा रही थीं। वे लाहौर में भगवती भाई के यहाँ ठहरी हुई थीं। जयचन्द्र जी ने सुशीला दीदी से भी इस काम के लिये रुपया देने का अनुरोध किया। सुशीला दीदी के पास उस समय रुपये नहीं थे परन्तु इस महत्वपूर्ण काम के लिये वे यथाशक्ति सहायता भी देना चाहती थीं। उन्होंने अपनी चूड़ियां दिखा कर उत्तर दिया—"मेरे पास ये हैं, इन्हें दे सकती हूँ। आप इन्हें बेच डालिये।" सुशीला जी ने सोने की चूड़ियां उतार कर जयचन्द्र जी को सौंप दीं। इनकी कीमत लगभग दो-सौ रुपया होनी चाहिये थी।

निश्चय हुआ कि भगवती भाई चूड़ियाँ बेच कर रुपया पार्टी को दे दें। भगवती भाई चूड़ियाँ बेचने में हिचक रहे थे। उन्हें सुशीला दीदी के प्रति बहुत श्रद्धा और अनुराग था। वे सोच रहे थे—"दीदी की चूड़ियाँ क्यों बिकें? न हो चूड़ियों के दाम अपने पास से ही दे दूँ।" इसके साथ ही यह भी खयाल था कि क्या इतने रुपये से काम पूरा हो जायगा? शेष कहां से आयगा? यदि आवश्यक रकम पूरी न हुई तो इस रुपये का क्या होगा? और रकम हो जाय तो कमी पूरी करने के लिये चूड़ियां बेच दी जायें। इसी झिझक में दो-तीन दिन निकल गये।

जयचन्द्र जी के यहाँ से रुपये के लिये दो-तीन बार तकादा आ चुका था। अन्त में यह सन्देश पहुँचा कि चूड़ियाँ अभी बिकी न हों तो बेची न जांय केवल तुलवाकर उनके सोने के दाम मालूम कर लिये जायें।

भगवती भाई ने प्रश्न किया—"यह क्यों?"

उत्तर मिला—"जयचन्द्र जी की भांजी का विवाह होने वाला है। यह चूड़ियां उनकी भांजी के लिये काम आ जायंगी। वे लोग सोने का दाम दे देंगे। इससे दल को जो रुपया चूड़ियों के दाम में मिलना है, मिल जायगा और भाँजी के लिये चूड़ियाँ गढ़ाने की लागत की बचत भी हो जायगी।"

भगवती भाई ने कहा, यह नहीं होगा। सुशीला दीदी की चूड़ियाँ बेच कर दल को रुपया दिया जायेगा। इसके साथ ही जयचन्द्र जी की भांजी की चूड़ियों के लिये जो रकम खर्च की जाने वाली है, वह भी दल को दी जानी चाहिये। सुशीला दीदी बगैर चूड़ियों के रह सकती हैं तो जयचन्द्र जी की भांजी को भी वगैर चूड़ियों के गुजारा कर सकना चाहिये। दल के प्रति जितना कर्तव्य सुशीला दीदी का है उससे अधिक जयचन्द्र जी का है। भगवती भाई के इस सुझाव से न केवल जयचन्द्र जी की जेब पर चोट आती थी बल्कि दल के प्रति उनकी निष्ठा के बारे में भी प्रश्न उठता था। उनका सम्मान तभी बच सकता था जब इस सुझाव की बदनीयती प्रमाणित हो जाती। जयचन्द्र जी ने ऐलान कर दिया कि भगवती खुफिया पुलिस का आदमी है। पहले वह कम्युनिस्टों को धोखा दे चुका है। जयचन्द्र जी ने चूड़ियों की घटना तो किसी को न बताई; सबसे यही कहते रहे कि उन्हें बहुत ही विश्वस्त-सूत्र से पता चला है कि भगवतीचरण खुफ़िया पुलिस के आदमी हैं।

यहाँ तक कि जब भगवती भाई और मैं गिरफ्तारी के वारण्टों के कारण फरारी में दिन बिता रहे थे और साथ-साथ ही थे, मुझ से मुलाकात होने पर भी जयचन्द्र जी ने दल का संचालन करने की इच्छा प्रकट करते हुए मुझे भगवतीचरण को अपना पता न लगने देने की खास ताकीद कर दी। उस समय जयचन्द्र जी की और मेरी जो बात हुई, उस से यह मैं स्पष्ट समझ गया कि जयचन्द्र जी यह जानते हुये भी कि भगवतीचरण वारण्टों के कारण फरार है, उनके विरुद्ध विषभरा प्रचार किये ही जा रहे थे। जयचन्द्र जी जैसे चतुर व्यक्ति से इतनी मूर्खता की आशा नहीं की जा सकती कि वे खुफिया पुलिस के व्यक्ति के फरार हो जाने की बात सोचें। बम विस्फोट से भगवती भाई का देहान्त हो जाने पर भी जयचन्द्र जी यही कहते रहे कि भगवतीचरण कहीं छिप गया है, उसने अपने मरने की झूठी खबर फैला दी है।

गुप्त आन्दोलन में जाँचपड़ताल का अवसर होता ही कहाँ है! काम विश्वास पर ही चलता है। यह पूछना कि प्रमाण क्या है; पता कैसे चला; कठिन था। बात फैल गई। लोग विश्वास करने लगे। इस प्रकार के तर्क भी किये जाने लगे कि रायसाहब की औलाद से और आशा ही क्या की जा सकती है। किसी ने कहा कि भगवतीचरण चाहता तो उसे बीस जगह नौकरियाँ मिल सकती थीं। उसके पास रुपया काफी है, वह चाहता तो कोई कारोबार ही कर लेता लेकिन उसे जरूरत क्या? वह तो सी० आई० डी० की नौकरी कर ही रहा है।

यदि भगवती भाई का स्वभाव खाने पीने और उजाड़ने का होता, कुछ ऐय्याशी और तमाशबीनी करते दिखाई देते, तब भी लोगों को समझ आ जाता कि यह आदमी कोई रोजगार या नौकरी क्यों नहीं करता। विपरीत इसके वे एक पैसा भी फ़िजूल खर्च न करने वाले, तमाशबीनी से बहुत दूर, जब देखो कमरे का दरवाज़ा उड़काये कुछ लिख-पढ़ रहे हैं। यह सब गुण अब उनके खतरनाक खुफ़िया होने का प्रमाण बनने लगे। यही कहा जाने लगा कि इस आदमी ने राजनैतिक काम में आगे बढ़ कर इसीलिये जाल फैलाया है कि सब उत्साही कार्यकर्ताओं को एक साथ फँसा दे। लोग उनसे और आपस में भी कतराने और भागने लगे।

गर्मियों की छुट्टियाँ समाप्त होने पर मैं लाहौर नौकरी पर लौटा तो 'नेशनल स्कूल' भी समाप्त कर दिया गया। मैं बेकार हो गया। भगतसिंह और सुखदेव ने फिर मुझे दल के काम की याद दिलाई परन्तु वे स्वयं भी उस समय कुछ कर नहीं पा रहे थे। भगवती भाई के खुफ़िया समझ लिये जाने के कारण पुराने आधार पर आगे बढ़ पाना सम्भव नहीं था। जरूरत थी नये संगठन के लिये यत्न करने की। अब मुझे यह संकोच अनुभव हो रहा था कि जब तक नौकरी थी, मैं क्रान्ति के काम के लिये तैयार न हो सका। बेकार होते ही क्रान्तिकारी बन जाऊँ तो इसमें त्याग की बात क्या है! उस समय मैं राजनैतिक कार्य से त्याग का अहंकार पूरा करने का संतोष चाहता था। उसे अपने व्यक्तिगत और सामाजिक सम्बन्धों के रूप में अनुभव नहीं करता था। निजी समस्याओं को सामाजिक रूप में नहीं, व्यक्तिगत दृष्टिकोण से ही देखता था। राजनैतिक कार्य को अपना उद्धार नहीं देश का उद्धार या परोपकार समझता था।

स्कूल में नौकरी करते समय जब मैंने मां की नौकरी फ़िरोज़पुर अनाथालय से छुड़ा दी थी तो वे लायलपुर चली गई थीं। कांगड़े न जा कर लायलपुर आने का कारण था कि छोटे भाई को स्कूल में पढ़ाने की कोई व्यवस्था कांगड़े के देहात में न हो सकती थी। पिता का देन्हात मेरे कालिज में पढ़ते समय ही हो गया था। हमीरपुर तहसील में हमारा कच्चा-सा मकान भी गिर गया था। अब कांगड़े जाने से अपने सम्बन्धियों के यहाँ टिकने के अलावा और कोई चारा न था। किराये के मकान उस देहात में कहाँ मिलते हैं। लायलपुर में हमारे सम्बन्धी कुछ कारोबार कर रहे थे इसलिये मां भी लायलपुर जा, उनके मकान का एक हिस्सा किराये पर ले रहने लगीं। मेरा भाई धर्मपाल वहीं स्कूल में पढ़ रहा था। मैं भी लायलपुर आ गया। नेशनल कालिज का ग्रेजुएट होने के कारण सरकारी नौकरी की आशा नहीं थी। कारोबारी नौकरी वैसे काम का अनुभव हुए बिना कैसे मिलती? कोशिश की, परन्तु मिली नहीं। हमारे सम्बन्धी पत्थर के कोयले की एजेन्सी का कारोबार कर रहे थे। उन्होंने मुझे अपने साथ काम करने के लिये कहा। कुछ दिन इस चक्कर में घूमा फिरा परन्तु कुछ बना नहीं। मां ने मेरी बेकारी के कारण फिर कन्या पाठशाला में नौकरी कर ली। लायलपुर में खिन्नता में गुजारे उन दिनों में भी दल के काम के प्रति बिल्कुल उपेक्षा नहीं थी। यहाँ मैंने कुछ सम्पर्क स्थापित किये जिनमें से एक दूसरे लाहौर षड्यंत्र केस का धर्मवीर था। कुछ सम्पर्क ऐसे थे जो बाद में हमारा काम बढ़ने पर शरणस्थान बनते रहे। यहाँ रहते समय बहिन प्रेमवती को दल का सक्रिय कार्यकर्ता बना लिया। वे सम्बन्ध में तो मेरी भांजी ही थीं परन्तु उम्र में बराबर होने के कारण हम लोग आपस में बहिन-भाई हो गये। प्रेमवती जी को पार्टी में सब लोग 'बेबे' (दीदी) पुकारते थे। मैं लायलपुर में समय व्यर्थ जाता देख लाहौर लौट आया।

लाहौर में मेरे लिये अखबारों के दफ्तर में ही कोई काम सम्भव हो सकता था परन्तु उर्दू लिपि का अभ्यास नहीं था। उर्दू के दैनिक लाहौर से पाँच या छः निकलते थे, वहीं गुन्जाइश भी हो सकती थी। हिन्दी साप्ताहिक उस समय एक निकलने लगा था—"आकाशवाणी"। वह भाई परमानन्द जी की संरक्षकता में था। उनकी साम्प्रदायिक नीति में समा सकना मेरे लिये सम्भव नहीं था। अंग्रेजी दैनिक दो तीन थे परन्तु

उनमें मुझसे पहले के कई लोग अवैतनिक अप्रेंटिसी मुद्दत से करते चले आ रहे थे।

उस समय कांग्रेस की राजनीति पण्डित मोतीलाल नेहरू की स्वराज्य पार्टी और लाला लाजपतराय जी की नेशनलिस्ट पार्टियों की प्रतिद्वन्द्विता थी। लाहौर में लाला लाजपतराय के मुख्य अनुयायी थे डाक्टर गोपीचन्द भार्गव। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी में वामपक्षी समझे जाने वाले डाक्टर सत्यपाल के दल का भी काफी प्रभाव था। लाहौर के हिन्दू व्यापारी वर्ग का समर्थन डाक्टर गोपीचन्द की ओर था। वे यों तो शुद्ध कांग्रेसी थे, पंजाब की लेजिस्लेटिव असेम्बली में कांग्रेस के प्रतिनिधि सदस्य थे परन्तु उनका विश्वास हिन्दुओं को राजनैतिक रूप से संगठित करने में अधिक था। इस काम के लिये लाला लाजपतराय जी की संरक्षकता थी। डाक्टर गोपीचन्द का दूसरा काम था गांधी खद्दर भण्डार को सफल बनाना। कांग्रेस के वामपक्ष का कार्यक्रम केवल लाजपतराय-गोपीचन्द दल का विरोध करना था। विदेशी शासन के विरुद्ध यदि कोई पुकार थी तो केवल नौजवान भारतसभा की। मैं रोजगार और राजनैतिक काम में सामञ्जस्य जमा सकने के यत्न में परेशान था। 'नेशनल स्कूल' में काम करते समय सान्त्वना थी कि राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिये ही काम कर रहा हूँ। डेरा भगतसिंह के मकान पर ही था। डाक्टर गोपीचन्द भार्गव के सामने अपनी समस्या रखी। डाक्टर साहब एक सेवासमिति और व्यायामसमिति के रूप में राजनैतिक हिन्दू-संगठन का काम आरम्भ करना चाहते थे। उन्होंने वेतन पर यह काम सम्भालने के लिये मुझे कहा। इसके साथ ही मैं डाक्टर साहब का असेम्बली सम्बन्धी काम भी सेक्रेटरी के तौर पर करने लगा। यह काम सम्भालने से पहले भगतसिंह और भगवतीचरण से बात-चीत भी कर ली। कांग्रेस के वामपक्ष के लोग, खास कर लाला केदारनाथ सहगल मुझे डाक्टर गोपीचन्द के साथ आन्तरिकता बढ़ाते देख नाक सिकोड़ने लगे परन्तु दल के साथियों ने उसका अनुमोदन ही किया।

मेरा काम था हिन्दू नौजवानों को हिन्दू-व्यायामशाला में एकत्रित करके गतका-फरी, बाना, लाठी और सैनिक व्यायाम सिखाना। गतका-फरी सिखाने वाले उस्ताद भी रख लिये गये थे। अवसरवश एक चतुर बिनौटिया भी बरेली से आ गया था। इसके अतिरिक्त सेवा-

समिति का संगठन भी था जो न केवल उत्सवों और मेलों पर व्यवस्था रखने के लिये बनाया गया था बल्कि साम्प्रदायिक दंगे के संकट में हिन्दुओं की रक्षा कर सकता था। लाहौर के सब गली-मुहल्लों के नक्शे म्युनिसिपैलिटी से लेकर मैं उनकी भौगोलिक स्थिति की जाँच करके यह बताता था कि किस-किस हिन्दू मुहल्ले को पड़ोसी मुस्लिम मुहल्ले से आक्रमण की आशंका हो सकती है और इस आशंका के लिये क्या प्रबन्ध सम्भव है। उदाहरणतः हिन्दू गलियों के मोहरों पर दरवाज़े आदि लगवाना, यह देखना कि पानी का नल कट जाने पर उन गलियों में जल का क्या प्रबन्ध हो सकता है; कहीं आग लग जाने पर उसे तुरंत बुझाने का क्या प्रबन्ध हो सकता है?

यह स्पष्ट है कि इस सतर्कता और संगठन की जड़ में हिन्दू मुसलमानों का पारस्परिक अविश्वास और दंगे में मार न खाने की तैयारी ही थी। लाहौर में हिन्दुओं की संख्या अपेक्षाकृत प्रतिशत कम थी; पैंतालीस-पचपन का अनुपात रहा होगा परन्तु सम्पत्ति शायद पचासी प्रतिशत हिन्दुओं के ही हाथ में थी। पारस्परिक आतंक इतना था कि न गोमांस और न सुअर का मांस ही खुलेआम बिक सकता था। उन्हीं दिनों एक बार मुझे दिल्ली जाना पड़ा था जहाँ हिन्दुओं की जनसंख्या अधिक होते हुये भी परन्तु गो-मांस निधड़क बिक रहा था।

इस काम के लिये डा० गोपीचन्द के मकान के पास ही बाजार में एक जगह किराये पर मुझे ले दी गयी थी। डा० साहब बच्छोवाली में रहते थे। यह जगह मच्छी हट्टा में थी। फासला लगभग सौ कदम का होगा। मकान पुराने ढंग का था। एक बड़ा कमरा और छोटी कोठड़ी दुमंजिले पर और तीसरी मंजिल पर भी एक छोटा सा कमरा और सेहन था। बड़े कमरे में फर्शी दरियाँ बिछा दी गई थीं ताकि राजनैतिक हिन्दू संगठन से सम्पर्क रखने वाले लोगों को वहाँ बैठ कर बातचीत करने की सुविधा रहे। दो-एक दैनिक पत्र लगवा लिये गये थे। आरम्भ में हफ्ता दिन कुछ बुजुर्ग लोगों ने यहाँ बैठकें लगाईं परन्तु मामला जमा नहीं। डा० साहब संध्या समय बहुत व्यस्त रहते थे। उनके अपने यहाँ ही प्रायः दरबार लगा रहता। इस मकान में एक दोष यह था कि नीचे पकौड़े और दूसरी ऐसी ही चीजें तल कर बेचने की दुकान थी। उसका धुआँ समय समय पर ऊपर आता रहता और बैठे लोगों को

खाँसी आने लगती। भद्र पुरुषों ने यहाँ आना छोड़ दिया। मुझे धुयें की कुछ परवाह न थी। यह अड्डा बन जाने पर भगतसिंह और सुखदेव भी यहां बसेरा करने लगे।

भगतसिंह इन दिनों बहुत विक्षिप्त था। उसके क्षोभ के राजनैतिक और पारिवारिक दोनों ही तरह के कारण थे। राजनैतिक कारण था भगवती भाई के खुफिया घोषित कर दिये जाने के कारण बने बनाये दल का बिखर जाना। दल के लिये यह मामूली धक्का नहीं था। इस अफ़वाह से संगठन का तितर-बितर हो जाना स्वाभाविक ही था। भगवती-चरण जैसे महत्वपूर्ण आदमी को खुफिया पुलिस का आदमी मान लेने का अर्थ था कि हम सब लोग अब तक सरकार के खुफिया कारिन्दों की कठपुतली बन कर नाच रहे थे। ऐसी बात पर विश्वास कर लेना कोई बड़ी बात नहीं थी; क्योंकि रूसी-क्रान्ति के आतंक-वादी काल के वर्णनों में हम ऐसे कई जिक्र पढ़ चुके थे जिनमें जार की पुलिस के आदमियों ने क्रान्तिकारियों को बीन-बीन कर पकड़ लेने के लिये स्वयं ही जार विरोधी क्रान्तिकारी षड़यन्त्र रचे थे। भगवती भाई के खुफिया पुलिस के आदमी होने की अफ़वाह गुप्त दल, नौजवान भारतसभा और कांग्रेस में सभी जगह फैल गयी। सभी जगह सुनाई पड़ता—"बहुत ही विश्वस्त सूत्र से इस आदमी के जासूस होने की बात पता चली है।"

युक्तप्रान्त में काकोरी के क्रान्तिकारी बन्दियों को जेल से निकाल लेने की आयोजना के लिये यत्न नहीं किया जा सका। उसका एक कारण पञ्जाब से कोई सहायता न पहुँच सकना था। इस योजना के स्थगित रह जाने से जो असन्तोष दल के सदस्यों ने अनुभव किया उस का बोझ भी भगवती भाई के ही कन्धों पर डाल दिया गया। भगवती भाई के खुफिया कारिन्दा होने का प्रचार जयचन्द्र जी की मार्फत युक्तप्रान्त तक पहुँच चुका था। उन लोगों के विश्वास में वे ही पंजाब के क्रान्तिकारी मुखिया थे। इसलिये इस प्रचार पर पूरा विश्वास भी कर लिया गया।

अब लाहौर में दल का संगठन ऐसे आधार पर करने की चेष्टा की जा रही थी जिसका कोई सुराग भगवती भाई को न लग सके। कठि-नाई यह थी कि भगवती भाई बहुत कुछ जानते थे। जयचन्द्र जी का

रवैय्या यह था कि इस आदमी के रहते कुछ करना सम्भव नहीं। यह बहुत ही धूर्त और काइयाँ है।

भगतसिंह की परेशानी यह थी कि एक ओर तो उसे भगवती भाई पर पूरा विश्वास था, दूसरी ओर उन्हीं के कारण उसे दल के सब कामों में रुकावट मालूम हो रही थी। काम को बढ़ाने के लिये किसी भी व्यक्ति या योजना का चर्चा चलते ही जयचन्द्र जो अपने होंठ पर उंगली फेरते हुए चेतवानी दे देते—"भगवती को मालूम हो जायगा!" और बात रह जाती। भगतसिंह दल के हित में व्यक्तिगत मित्रता की रुकावट मानने के लिये तैयार नहीं था। वह इस बात के लिये तुला बैठा था कि यदि भगवतीचरण को मार देने से ही दल के मार्ग की रुकावट दूर हो सकती है तो वही सही। वह जब कभी मुझ से मिलता प्रायः यही चर्चा करता। कहता एक आदमी की वजह से सब कुछ बरबाद हो रहा है। परन्तु साथ ही विवशता के स्वर में यह भी कह देता—"वह कम्बख्त सचमुच खुफिया का कारिन्दा है भी ?"

मैंने दुर्गा भाभी के साथ ही प्रभाकर की परीक्षा दी थी। इसलिये मेरा उनके यहां आना-जाना बढ़ चुका था। भगतसिंह खीझ कर कहता—"तू वहाँ जाकर मजे में खा-पी आता है, हा-हा, ही-ही कर आता है लेकिन उसका असली भेद नहीं पा सकता ?" मानना पड़ता कि कोशिश करने पर भी मुझे ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिला।

भगतसिंह मेरी आंखों में घूर कर पूछता—"तो वह सी० आई० डी० में नहीं है ?"—मैंने उलझन में उत्तर दिया—"सभी लोग कहते हैं। मैं कैसे इन्कार कर दूँ। शायद उनके पास कोई प्रमाण हो !" क्योंकि प्रमाण कोई नहीं था और कहते सब ही थे, मैं स्वयं भगवती भाई को बहुत ही चालाक समझ रहा था।

भगतसिंह का चेहरा बहुत ही गम्भीर हो गया। उसने एक छोटा सा रिवाल्वर मुझे दिखा कर कहा—"मैं उसे गोली मार दूँगा—झुंझलाहट में मैंने उत्तर दिया।—"जिम्मेवारी तुम्हारी होगी।"

भगतसिंह एक दीर्घ श्वास ले चुप रह गया। इस घटना के एक दो दिन के भीतर ही मैंने भगतसिंह को भगवती भाई के मकान में तख्त पर एक साथ एक ही तकिये का सहारा लगाये बैठे देखा। भगवती

बिलकुल निशंक, बनियान से कसे अपने पेट पर हाथ फेर रहे थे और भगतसिंह का चेहरा अन्तर्द्वन्द्व से जलता सा मालूम हो रहा था। वह भगवतीचरण पर अपने विश्वास, भगवतीचरण की निश्छलता, चतुरता और दल के हित में कोई सामञ्जस्य नहीं बन पा रहा था।

उन लोगों का कहना था कि मैं भगवती भाई से आन्तरिकता होने के कारण समय-असमय वहाँ जा सकता हूँ इसलिये उन्हें गोली मारने का निश्चय हो जाने पर यह काम मेरे ही जिम्मे होना चाहिये। मैं इस से इनकार न कर सकता था। बल्कि कर्तव्य ही समझ रहा था।

कुछ ही दिन बाद सुखदेव मेरे यहाँ आया और बहुत ही गम्भीर मुद्रा में बोला—"भगवती के इस झगड़े का फैसला करना ही होगा।"

"क्या मतलब ?"—मैंने चिन्ता से पूछा।

उसका चेहरा बहुत विक्षिप्त था। मेरे मस्तिष्क में आशंका कौंध गई कि यह शायद कुछ करने के लिये तैयार रिवाल्वर लेकर आया है!

"भगतसिंह भगवतीचरण को सांडा ले गया है। तुम उसके घर जाओ और चाहे जैसे हो, उसके निजी कागजों की तलाशी लेकर जितना भी देख सकते हो देखो, या और जिस तरह भी पता लग सकता है लगाओ। यह नहीं हो सकता कि रुपये में पैसा भर सन्देह के लिये कारण न मिले"—सुखदेव ने कहा।

दो-एक-दिन से मुझे जुकाम था। परेशानी में एक हकीम-अत्तार की दुकान पर गया था। उसने एक पुड़िया दे दी थी कि इसे कूट और ऊबाल कर पीलो। पुड़िया मेरी कोट की जेब में ही थी। 'ग्वालमण्डी' की ओर जाता हुआ चिन्ता से जेब में हाथ डाले सोचता जा रहा था कि कैसे क्या कुछ कर सकूंगा। मकान पर पहुँचा तो दरवाजा भीतर से बन्द था। दरवाजा खटखटाया। भाबी ने ऊपर से झाँका। मैंने पूछा—"भगवतीचरण कहाँ है ?"

उन्होंने ऊपर से उत्तर दिया—"कुछ कह के नहीं गये। खाने के लिए वे आते ही होंगे, बैठो।" और ऊपर से आ दरवाजा खोल दिया। आते ही उन्होंने पूछा—"क्या जुकाम है ? तुम जुशांदे की पुड़िया ले आओ मैं खाना बना रही हूँ। पिछले चूल्हे पर रख दूँगी, अभी तैयार हो जायगा।"

जेब से पुड़िया निकाल कर दिखाई—"इसे कूटना भी पड़ेगा।" भाभी ने पुड़िया ले ली और ऊपर चली गयी। जाते हुए कह गयीं—"फुलके सेंक रही हूँ। तवा उतार कर इसे कूटूंगी।"

दुर्गा भाभी जब से देहली कांग्रेस की प्रधान बनीं स्वभाव कुछ बदल गया है। लीडरानी बन कर बहुत बातूनी भी हो गई हैं। तब वह बहुओं की तरह चुप ही रहती थीं। दो बार पूछने पर एक जवाब देतीं। उन्हें मालूम नहीं था कि भगवतीचरण बाहर ही बाहर 'सांडा' चले गये हैं। मैंने जीने के किवाड़ों में चिटखनी लगा दी और जीने की ओर आहट के लिये कान लगाये रहा। कुछ देर बाद ऊपर से दवाई के कूटे जाने की आहट आने लगी। मैं और भी निश्चित हो तलाशी में लगा रहा। नीचे कमरों में एक-एक आलमारी की एक-एक चीज की जाँच पड़ताल करने लगा। प्रत्येक काग़ज़ को ध्यान से देखता गया। चलते समय चाबियों का एक गुच्छा भी लेता आया था कि ज़रूरत होने पर तालों में लगाकर देख लूंगा। लेकिन ताला कहीं था ही नहीं। एक दो जगह ताले थे तो खुले लटके हुये। जगह-जगह बहुत से काग़ज मिले। कुछ लिखी हुई कापियाँ मिलीं। इन में भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास की भूमिका के तौर पर लिखे कुछ पृष्ठ थे, जिसकी पहली लाइन थी—"Rebellion is the Birth Right of every slave nation." कुछ पृष्ठ पंजाब की "ग़दरपार्टी" के बारे में लिखे हुये मिले। यह पुराने आन्दोलन के प्रशंसात्मक वर्णन थे। साथ के कमरे में कपड़ों के ट्रंक और बक्स थे, प्रायः बिना ताले के ही। ईंधन रखने की कोठड़ी तक में झांका। मैं जितनी भी तलाशी ले सकता था ली परन्तु कोई सन्देहात्मक चीज़ नहीं मिली। जिन चीजों का मैंने वर्णन किया है उनमें से बहुत सी तो मुझे वह पहले स्वयं भी दिखा चुके थे। अपनी लिखी चीज पढ़ कर सुनाने का उन्हें भी शौक था। प्रायः एक घण्टे के बाद जीने में आहट सुनाई दी। मैंने तलाशी बन्द कर चुपके से चटखनी खोल दी। भाभी जुशांदे का गरम गिलास आंचल में थामे हुये उतरीं। मैंने विस्मय दिखा कर पूछा—"भगवती भाई नहीं आये ?"

"तो अब आते होंगे"—कह कर वह फिर ऊपर चली गई। कुछ देर और निरर्थक जगहों में भी ताक-झाँक की और फिर भाभी को ऊपर से बुलाने के लिये दरवाजा खटखटाया—"'''तो अब जा रहा हूँ।"

"अच्छा"—भाभी ने हामी भर ली और मेरे घर से निकल जाने पर दरवाज़ा बन्द कर ऊपर चली गईं।

लौट कर सुखदेव को अपने निष्फल प्रयास की बात सुनाई। गनीमत यह है कि भगवतीचरण को गोली मार देने का निश्चित फैसला नहीं कर लिया गया। वह भी शायद इसीलिये कि जयचन्द्र जी चतुर होते हुये भी बहुत डरपोक स्वभाव के आदमी हैं। उन दिनों कभी रिवाल्वर और पिस्तौल एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाने होते तो वे यह काम स्वयं नहीं करना चाहते थे। भगतसिंह ने एक रोज मुझे तीन या चार रिवाल्वर रख लेने के लिये दिये। वह बक्सा बन्द था। रिवाल्वर हैं; सिर्फ इसलिये बता दिया था कि मैं बेपरवाही से न रखूं। हंसते-हंसते लोट पोट होते हुये उसने बताया जयचन्द्र जी एक खतरे के काम पर गये थे। उन्हें रिवाल्वर साथ दे दिय गया था कि गिरफ्तारी का संकट आने पर अपने आप को बचा सकें। उन्होंने खाली रिवाल्वर एक जेब में और कारतूस रूमाल में बाँधकर दूसरी जेब में रख लिये थे। यह सतर्कता इसलिये थी कि रिवाल्वर उनसे बिना पूछे ही न चल जाय।

इन दिनों भी मैं दल का विशेष काम नहीं कर रहा था। केवल हथियार सम्भाल कर रखना, बाहिर से आये आदमियों के लिये जगह करना या किसी आवश्यक सूचना का प्रबन्ध करना। यह निश्चित था कि यदि अनिवार्य रूप से मेरी आवश्यकता हो, तो मैं तैयार हूँ। मैं बेमतलब अपनी नौकरी नहीं छोड़ देना चाहता था। यह नौकरी पार्टी के लिये भी उपयोगी थी।

भगतसिंह के विक्षिप्त रहने का दूसरा कारण था, सरदार किशनसिंह जी का व्यवहार। भगतसिंह काफी समय दिल्ली, कानपुर रह आया था। उसका यह प्रवास गुप्त ही था। पिता के बार-बार पूछने पर भी उसने उस प्रवास के रहस्य उन्हें नहीं बताये थे परन्तु उसके लक्षणों से इस फ़रारी का कारण भाँप लेना कठिन नहीं था। सरदार जी को यह भी आशंका बनी हुई थी कि लड़का फिर कभी भी अन्तर्ध्यान हो जा सकता है। बीच-बीच में दो-चार दिन के लिये वह उड़ भी जाता। सी० आई० डी० उसका पीछाकर रही थी। यह देख कर सरदार जी और भी चिन्तित थे। वे सोचते ही नहीं बल्कि लड़के को समझाते थे कि सी० आई० डी० का सन्देह दूर करने के लिये तुम्हें घर

पर जम कर रहना चाहिये। देशभक्ति यों लौंडेपन से नहीं हुआ करती। ज़रा अक्ल से काम लो!

भगतसिंह को घर पर बांध देने का उपाय जो सरदार जी ने सोचा सो कोई नया नही था; वही पुराना तरीका कि भगतसिंह का विवाह कर दिया जाय। एक अच्छे अमीर देहाती सिख परिवार में उन्हों ने लड़की भी निश्चित कर ली। विवाह के लिये भगतसिंह को तैयार न देख सरदार जी और भी क्रुद्ध और चिन्तित रहने लगे।

सरदार जी ने विवाह के प्रति आपत्ति का कारण पूछा। भगतसिंह ने उत्तर दिया कि जब तक आर्थिक रूप से अपने पाँव पर खड़ा न हो जाऊँ शादी करना ठीक नहीं। सरदार किशनसिंह जी ने उत्तर दिया–"तू हमें ही रास्ता बताना चाहता है?.........विवाह कर लो और अपने पांव पर खड़े होने की कोशिश भी करो! हम मना करते हैं? विवाह हो जाने से तुझे कौन झंझट हो जायगा?" भगतसिंह ने अपनी उम्र कम होने का भी एतराज किया। सरदारजी ने उत्तर दिया—"और सब बातों के लिये तो बुजुर्ग बनता है बस शादी के लिये ही कमसिन है?......... शादी हो जाने दो। बहू को घर तभी बुलाना जब जरूरत जान पड़े।" सरदार जी को इस विवाह से काफी बड़े दहेज की भी आशा थी। लड़की वाले बात पक्की कर लेना चाहते थे। इसलिये सरदार जी भगतसिंह के इन्कार के कारण मानसिक ज्वर की सी अवस्था में दिखाई देने लगे।

बहुत दबाव पड़ता देख भगतसिंह ने एतराज किया कि वह शादी करेगा ही तो पढ़ी लिखी लड़की से। उसे यह मालूम हो चुका था कि सरदार जी ने जो लड़की तलाश की है, वह गांव के अच्छे बड़े जमींदार की लड़की है। गांव में लड़कियों का स्कूल कहां? बहुत होगा, कुछ गुरुमुखी जानती होगी। भगतसिंह ने जिद्द की कि वह कम से कम मैट्रिक पास लड़की से शादी करेगा। इस उत्तर से सरदार जी और भी बौखला उठे।

भगतसिंह को खुद दल के काम-काज से भी कभी-कभी घर से बाहर रह जाना पड़ता था और कभी-कभी पिता के सदा बिगड़ते ही रहने के कारण भी वह घर न जाता। मेरे यहाँ या भगवतीचरण के यहाँ टिक जाता और कभी कहीं और। इस बात से सरदार जी और भी अधिक विक्षिप्त हो जाते। हम सभी सरदार जी के निरन्तर क्रोध के कारण

उनसे डरने लगे। कभी हम लोग आपस में मज़ाक ही कर रहे हों और वे अचानक आ जायँ तो चुप हो जाते। बुजुर्गों के सामने सभी तरह की बातें की भी तो नहीं जा सकतीं। सरदार जी समझ लेते कि यह लोग राजनैतिक-षड्यन्त्र की बातें कर रहे थे, मुझे देख चुप हो गये। उनका क्षोभ और क्रोध और भी बढ़ जाता।

सरदार जी मेरी जगह पर कभी नहीं आये थे। एक दिन पूछते-तांछते हाथ में लाठी लिये वे मेरे यहां आ पहुँचे। उनका चेहरा देख कर ही भांप गया कि वो बहुत ही नाराज़ और बिगड़े हुए हैं। आते ही क्रोध भरी आत्मीयता में उन्होंने मुझे सम्बोधन किया—"तू भगतसिंह को समझाता क्यों नहीं? आखिर वह शादी क्यों नहीं करता? अभी तुम लोग बड़े भारी क्रान्तिकारी ब्रह्मचारी बने फिरते हो, चार दिन बाद गलियों में लंहगे सूंघते फिरोगे।"—उन्होंने कुछ ऐसे विकट शब्दों और उपमाओं का प्रयोग किया जिन्हें दोहराया नहीं जा सकता।

मैंने भगतसिंह की ओर से सफाई दी कि शादी करने से तो वह इन्कार नहीं करता। उसे पढ़ने-लिखने का शौक है। वह चाहता है कि लड़की पढ़ी लिखी हो।

सरदार जी उबल पड़े—"पढ़ी लिखी लड़की में कुछ और बढ़ जाता है क्या?·······पढ़ी लिखी औरत से पैदा बच्चों को क्या पढ़ाना नहीं पड़ता?"

उनका क्रोध बढ़ता ही गया, वे साफ़-साफ़ गालियां देने लगे—"तू और जयचन्द दोनों बड़े कमीने हो।····अपने आपको बहुत चालाक समझते हो। खुद तो तुम लोग नौकरी कर रहे हो, दूसरों को बिगाड़ते फिरते हो।····तू उसे समझा नहीं सकता?"—उस समय यदि मैं उनसे यह कह देता कि मैं उसे क्या समझाऊँ, वही मुझे समझा रहा है तो जाने वे मुझे और क्या-क्या सुना देते। इसलिये मैं यही कहता रहा कि मैं तो उसे हमेशा समझाता रहता हूँ कि घर का काम देख—"देखिये मैं तो नौकरी कर ही रहा हूँ।

सरदार जी ने पैंतरा बदल कर पूछा—"वह कहां गया है?" मेरे अज्ञान प्रकट करने पर सरदार जी बिगड़ उठे—"उसने तो मुझ से यही कहा था कि तेरे यहां रह जाता है।"—एक जिम्मेवार व्यक्ति का नाम



यह चित्र पंजाब पुलिस ने भगतसिंह की पहचान रखने के लिये १६२७ में लहौर के शाही किले में लिया था। भगतसिंह पर पुलिस की नजर थी। १६२७ के दुसहरे के बमकांड के बहाने उसे गिरफ्तार कर लिया गया था। साथी भगतसिंह के चेहरे की रूपरेखा के लिये यही चित्र सब से अधिक प्रामाणिक है

लेकर वे बोले—"""ने भी भगत को आज सुबह तेरे साथ देखा था। तुझे पता नहीं तो किसे पता है ?"""उन्होंने एक अच्छी जोरदार गाली देकर कहा—"मैं तेरे बाप की जगह हूँ। तू मुझे चराता है, बदजात !"

कसम खाकर विश्वास दिलाया कि वह मेरे यहां आज नहीं आया बाजार में मिला था। इस पर उन्होंने पूछा—"सुखदेव कहाँ रहता है ?"

यह बताना मुश्किल था क्योंकि वह उन दिनों 'कन्हैयालाल बिल्डिंग' में जयगोपाल के साथ एक कमरा लेकर अप्रकट रूप से रह रहा था। मैंने सरदार जी को टालने के लिये दो चार जगहों के नाम बता दिये कि हो सकता है वहाँ कहीं हो।

सरदार जी ने उन सभी जगहों का चक्कर लगाया। बदकिस्मती से इन्हीं में से एक जगह भगतसिंह मिल गया।

भगतसिंह ने आकर क्रोध में इस मुलाकात का जो हाल सुनाया तो मेरी ग्लानि का अन्त न रहा। सौ कसमें खा कर उसे यकीन दिलाया कि मुझे विश्वास था कि तुम आजकल वहां नहीं जाते होगे। इसीलिये मैंने उन जगहों का नाम ले दिया था। भगतसिंह ने घुटनों, कोहनियों और कन्धों पर लाठी की मार के चिन्ह दिखाये और फिर हँस-हँस कर उन मौलिक गालियों के नये-नये समास बताये जिनका कि आविष्कार सरदार जी ने उस पर अपना क्षोभ प्रकट करने के लिये किया था।

१९२७ में लाहौर में दसहरे के अवसर पर एक बम विस्फोट हुआ था। यह किसी विकृत मस्तिष्क की करतूत थी। घनी भीड़ में बम-विस्फोट होने से बहुत-लोग जख्मी हो कर अस्पताल में भरती हुये। सेवा-समिति की ओर से इन लोगों की सेवा सुश्रुषा के लिये मैं हस्पताल जाता रहता था। दसहरे की भीड़ में हिन्दुओं की संख्या तो ज्यादा थी ही, इसलिये हिन्दू भाइयों ने कल्पना कर ली कि यह बम विस्फोट मुसलमानों की शरारत थी।

पुलिस ने सन्देह में कुछ आदमियों को गिरफ्तार कर लिया। इनमें से एक भगतसिंह था और दूसरा हमारे कालिज का विद्यार्थी बाबूसिंह। पुलिस ने भगतसिंह को प्रायः दो सप्ताह हवालात में रखा। उसे अदालत में पेश किये जाने की मांग की जा रही थी। पुलिस कोई मामला न गढ़ पाई। उसे अदालत में पेश किये बिना ही जमानत पर छोड़ दिया गया।

जमानत की रकम थी चालीस हजार रुपये । इस भारी जमानत पर होने के कारण, जामिनों को संकट में न डालने के लिये, भगतसिंह को अपने घर में कैद हो जाना पड़ा । वह कहीं भी आता-जाता तो पुलिस के खुफिया उसके पीछे छाया की तरह लगे रहते । खुफिया पुलिस को चकमा दे देना तो मामूली बात थी किन्तु चकमा देने का अर्थ होता, इस विषय में पुलिस के सन्देह को मजबूत कर देना ।

मैंने डाक्टर गोपीचन्द भार्गव की मार्फत पंजाब असेम्बली में भगतसिंह को बिना कारण जमानत पर रख कर परेशान करने के सम्बन्ध में प्रश्न का नोटिस दे दिया । डा० साहब को मुझ पर पूरा विश्वास था ही । उनके प्रश्न वगैरा मैं ही बना दिया करता था । चिकित्सा और कांग्रेस के दूसरे कामों से उन्हें रात के एक-एक बजे तक फुरसत न मिल पाती थी । असेम्बली में प्रश्न का नोटिस देने पर भगतसिंह की जमानत वापस कर दी गई । कुछ दिन तो भगतसिंह साधु बना घर पर टिका रहा परन्तु फिर ऐसा अन्तर्ध्यान हुआ कि १६२६ मार्च में केन्द्रीय-असेम्बली में बम फेंकने और परचा बाँटने के बाद ही प्रकट हुआ ।

हिन्दू संगठन के कार्यक्रम में आत्मरक्षा की शिक्षा देने के सिलसिले में इन दिनों बरेली के एक हकीम साहब को बिन्नौट, बाँक (छुरी) और जुजुत्सु की शिक्षा के लिये नियुक्त कर लिया गया था । हकीम साहब बहुत लहीम-शहीम और भारी-भरकम शरीर थे । यों तो वे व्यायामशाला में नित्य ही आते थे परन्तु बिन्नौट और बांक की विद्या के गुप्त गुर सभी लोगों को बताते फिरना उन्हें पसन्द न था । वे अपनी विद्या बेचने के अपमान की कलख भी अनुभव करते थे । उस समय के निरखों के लिहाज से उन्हें अच्छी तनखा दी जा रही थी, इसलिये मजबूर थे । आखिर उनसे यह निश्चय पाया कि वे मुझे अपने पट्ट शिष्य के रूप में स्वीकार करें । मुझे विशेष शिक्षा देने के लिये वे दोपहरबाद मेरे स्थान पर आते और खास-खास दाँव सिखा कर अभ्यास कराते रहते । भगतसिंह और सुखदेव जो हथियार समय-समय पर मेरे पास जमा कराते रहते थे उनमें रिवाल्वर, पिस्तौल, मौजर के अलावा बड़े-बड़े छुरे भी थे । जो दांव हकीम साहब से छुरे या जुजुत्सु के सीखता, इन लोगों को भी सिखा देता । हम उन दाँवों का मजाक भी करते । लाठी, छुरी, तलवार के

द्वन्द्व युद्ध में वे दांव बहुत सहायक हो सकते हैं परन्तु रिवाल्वर या पिस्तौल लिये शत्रु के सामने इन दाँवों का क्या उपयोग हो सकता है ?

छुरी चलाने के अभ्यास में एक रोज अच्छा मजाक हो गया। इस अभ्यास में कड़ी मेहनत पड़ने से शरीर पसीना-पसीना हो जाता है। इसलिये कमरे में न बैठ कर हम लोग अक्सर ऊपर खुले सहन में अभ्यास करते थे। बाज़ार और गली छोड़ कर सामने और दायें दो-मंजिले मकान थे। सामने के मकान से एक लड़की छुरियें चलने का यह तमाशा विस्मय से देखा करती थी। कभी-कभी गली की ओर से भी खिड़की में ऐसे दर्शक दिखाई दे जाते। छुरियाँ हम लोग बहुत तेज़ी से चलाते थे। कभी-कभी एक-आध खरोंच भी लग जाती। देखने वालों को क्या मालूम था कि यह उस्ताद शागिर्द का मामला है। उनके खयाल में यह लड़ाई या छुरीबाजी का मुकाबिला था। उस्ताद थे लहीम-शहीम और भारी भरकम। मेरा शरीर और आयु कम होने के कारण इन दर्शकों की सहानुभूति मेरी ओर ही रहती।

एक रोज उस्ताद ने वार किया। मैं बचा न पाया। छुरी की नोंक मेरे गाल में घुस गयी। काफी खून बह गया। सहसा पीतल की एक करछी हम लोगों के बीचोंबीच खन्न से आ गिरी। गनीमत थी कि किसी के सिर पर नहीं पड़ी। गरदन घुमा कर देखा, वह लड़की गुस्से में उस्ताद को मारने के संकेत से धमकी दे रही थी और उसके छोटे भाई भी चिमटा, बेलन और रसोई का चाकू दिखा-दिखाकर युद्ध की चुनौती दे रहे थे।

चोट ऐसी नहीं थी कि लेट जाना पड़ता। एहतियात में "मर्कोक्रोम" और "प्लास्टर" घर में ही रखता था। उस्ताद को अच्छी दिल्लगी सूझी। मजे में आकर बोले-"यह लौंडिया तुम्हें चाहती है। चूको मत।"

उस्ताद के सामने तो मुस्करा कर रह गया परन्तु उनकी बात अच्छी नहीं लगी। मन में नवयुवतियों के कोमल भावों और सहृदयता के प्रति आदर की धारणा थी। यह घटना तो निर्विवाद रूप ही से सहृदयता का प्रदर्शन था। जीवन में रोमांस की छाया आती जान पड़ी। यह मानते हुए भी कि पास-पड़ोस की लड़कियों की ओर ताक-झाँक करना भलमन-साहत नहीं है, इस मामले को एक खास घटना मान लिया। अपने से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं को सदा ही खास मान लिया जाता है।

स्वयं ही नजरें बार-बार उस ओर उठ जातीं । वह चेहरा मुझे बहुत ही सहृदयता और ममतापूर्ण जान पड़ता था । अच्छे समझे जाने या प्यार पाने के विश्वास से मस्तिष्क पर एक सरूर सा छा जाता है । आदमी इस अनुभूति को अपना गोपनीय धन बना लेता है ।

मन में ख्याल आया कि वासनापूर्ति की परिस्थितियाँ न होने के कारण यह मानसिक भावों का आदान-प्रदान और पवित्र आकर्षण ही है । मिठास भरी परेशानी अनुभव होने लगी ।

एक दिन भगतसिंह और सुखदेव को मेरे इस प्रणय की छाया मिल गई । मेरे बैठे रहने पर वह लड़की आहट से खिड़की बन्द या खोलने का संकेत करती थी । मेरी जगह सुखदेव के बैठे रहने पर ही वह ऐसा कर बैठी । सुखदेव ने उसे बार-बार इधर घूरते भी देखा । पहले तो मैंने छिपाया परन्तु मेरे अनजाने में सुखदेव ने मुझे भी उस ओर घूरते देख लिया था । मैंने साहस से अपना पवित्र प्रणय स्वीकार कर लिया । सुखदेव ने वह बात बता दी भगतसिंह को । दोनों ने मुझे कोंचना शुरू किया—"हमें भी दिखा ।" यह मुझे बहुत अभद्रता मालूम हुई । वे लोग बार बार छेड़ते—"क्या चमगादड़ की शक्ल की छोकरी है ?·······वाह रे कलाकार !"—झगड़ा होते होते बचा ।

एकान्त मिलते ही मैं बड़ी सद्भावना से परन्तु रक्त में प्रणय का उबाल अनुभव करते हुए उससे आंखें मिलाने लगता और बार-बार महात्मा नन्दगोपाल जी के नुस्खे के अनुसार अपने आपको विश्वास दिलाता रहता कि यह प्रणय पवित्र है । उस ओर न देखना कठिन जान पड़ता । दूसरे लोग साथ हों तो चिढ़ आने लगती । स्वयं कहीं बाहर होने पर लौटने की जल्दी रहती ।

उस लड़की का साहस बढ़ चुका था । वह प्रायः खिड़की में आ कर बैठ जाती । किसी दूसरे को मेरे यहाँ देखती तो खिड़की बन्द कर लेती । हम लोग एक दूसरे को देख-देख कर सान्त्वना अनुभव करते रहते । उसने कुछ संकेत भी करने आरम्भ किये ।

सौभाग्य या दुर्भाग्य से मुझे शहर की गलियों में रहने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था । बचपन से शहरों से बाहर या बोर्डिंगों में ही रहा था । दोनों खिड़कियों में अन्तर भी काफी था । इन संकेतों का एक ही

अर्थ समझ में आता था, आत्मीयता का प्रकाशन, जिसका मूल था सम-वेदना । मुझे उसका चेहरा बहुत ही करुण, शान्त और भावपूर्ण जान पड़ता था ; जैसे करुणा कातर 'मरियम' का ही चित्र हो ।

एक दिन उसने दुस्साहस से बहुत स्पष्ट ऐसा संकेत कर दिया कि इच्छा होने पर भी उसे भोलापन या सादगी समझ लेने का अवसर नहीं था । यह कुत्सित संकेत देख मेरी सद्भावनाओं, आदर और मान-सिक आकर्षण की मीनार एक ही धक्के से नींव तक गिर पड़ी । मैंने खिड़की धमाके से बन्द कर ली ।

शायद राजा 'भर्तृहरि' ने भी उस समय ऐसा ही अनुभव किया होगा जब चाँदनी रात में धूल में पड़ा लाल देख, उठाने के लिये झुकी उनकी उंगलियां पान की पीक में लिपट गई थीं ।

मुझे न केवल उस लड़की के प्रति ऐसी घृणा और भय अनुभव हुए जैसे गन्दी नाली में बहता बिच्छू देख कर होती है ; अपनी मूर्खता पर क्रोध भी आया कि मैंने नाली में पड़े कंकर को आकाश का तारा समझ लिया । यह धक्का इतना प्रबल इसलिये जान पड़ा कि उस समय नारी मेरे लिये केवल कल्पना की वस्तु थी; जिसे मैं संसार से अछूती हृदय मन्दिर में स्थापित पूजा की ही वस्तु समझता था । वह कल्पना मेरी कामनाओं के (subjective) आधार पर थी न कि वास्तविकताओं के (objective) आधार पर ।

इस स्मृति की खास बात यह है कि इस घटना के एक ही दो दिन बाद घर लौटते समय मैंने इस लड़की को उसके जीने से निकल कर बाजार में आते देखा । मुझे उसका शरीर, रूप और चेहरे का भाव सब इतने घृणित और कुत्सित जान पड़े जैसे काले, दुर्गन्धित कीचड़ में लिपटा हुआ कोई मेंढक उछल कर मेरे शरीर पर चढ़ आना चाहता हो । घिना कर मुंह फेर लिया और तेजी से अपने जीने पर चढ़ गया कि गन्दगी के छींटे मेरे कपड़ों पर न पड़ जायें । एक शब्द का भी विनिमय किये बिना मेरा प्रणय समाप्त हो गया ।

अपने साथियों में से केवल मैंने ही ऐसी प्रणयलीला की हो, सो बात नहीं । ऐसी ठोकर किसी को भी लग सकती है । भगतसिंह भी अपनी कल्पना में एक दुबली-पतली, पीली-पीली सी लड़की को, जो एक

कालिज में पढ़ रही थी, अपने मन में 'मेवाड़पतन' की 'मानसी' बनाये बैठा था। मुझे अब 'मेवाड़पतन' की कहानी तो याद नहीं पर भगतसिंह की 'मानसी' याद है। इस 'मानसी' ने भगतसिंह से कोई प्रतिज्ञा भी नहीं की थी। यह केवल भगतसिंह के मन का पढ़ी लिखी सुसंस्कृत दिखाई देने वाली लड़की के प्रति स्वतः आकर्षण मात्र था। अस्तु, जब इस 'मानसी' ने देश के प्रति उत्सर्ग को अपने मतलब की बात न समझ, एक समृद्ध नौजवान के शिष्ठ वेश और व्यवहार के प्रति आकर्षित हो उससे सगाई कर ली तो भगतसिंह की कल्पना के आदर्शों की मीनार भी ठसक गई वह भी दो-चार दिन लम्बी सांसें ले अपने घर के इक्के में, घोड़ी के बीमार हो जाने के कारण ऊँट जोत, दूध के कलसे शहर में पहुँचाता हुआ क्रान्ति की बात सोचने लगा। सुखदेव बहुत ही व्यवहारिक और रूखा हो गया था। वह ऐसे किसी जाल में नहीं फँसा। सबसे मजेदार मामला तो रहा झंडासिंह का। वह एक जलसे में खद्दर पहनने और नंगे पांव चलने वाली एक खूब शिक्षिता लड़की को हृदय की देवी मान बैठा। झण्डासिंह और उस लड़की के बीच केवल चर्खे के कच्चे सूत का ही आकर्षण संभव हो सकता था। निहायत खस्ता हालत में भी उधार मांग-मांग जालन्धर पहुँचता और स्कूल की चारदीवारी के चक्कर लगा कर लौट आता। जब इस 'सत्यसनेह' का कोई भी आत्मिक प्रभाव उसकी प्रेमिका पर नहीं दिखाई दिया तो बेचारा कई दिन तक एक लाल-सी दवाई की बोतल जेब में रख नियमपूर्वक दवाई पीने के बाद, क्योंकि प्रेम के दबाव से उसका हृदय और मेदा दोनों ही कमजोर हो गये थे, फिर खद्दर की पैदावार बढ़ाने के काम में लग गया।

लाहौर से फ़रार हो जाने पर भगतसिंह ने दिल्ली, आगरा, कानपुर, पटना और कलकत्ते तक बार-बार चक्कर लगा कर भिन्न-भिन्न प्रान्तों के क्रान्तिकारियों को एक सूत्र में बाँधने की चेष्टा की। स्थिति सभी प्रान्तों में खराब ही थी। स्थिति ख़राब होने का मुख्य कारण था, साधनों और संगठन की कमी। गुप्त क्रान्तिकारी आन्दोलन की सब से बड़ी कठिनाई यह थी कि उसका उद्देश्य तो सार्वजनिक था परन्तु उसे जनता से दूर रह कर जनता की सहायता के बिना चलना पड़ रहा था। अपने दल के लोगों अथवा सहानुभूति रखने वाले उंगलियों पर गिने जा सकने योग्य व्यक्तियों को छोड़ कर क्रान्तिकारी अपनी आवश्यकता और स्थिति

का भेद किसी को नहीं दे सकते थे। काकोरी की डकैती असफल हो जाने और इस मामले में बहुत से लोगों के मुखबिर भी बन जाने के कारण इस समय क्रान्तिकारी सर्वसाधारण लोगों से सहानुभूति की आशा कम ही रख सकते थे। क्रान्तिकारी प्रायः आर्थिक रूप से पीड़ित श्रेणी के लोग थे। विदेशी शासन की पराधीनता में जीविका के सम्मानजनक साधनों तक उनकी पहुँच नहीं थी। अपने जीवन में अवसर की कमी का कारण वे देश की दुरावस्था समझते थे। इसके लिये विदेशी शासन को जिम्मेवार मान वे इस के प्रति घृणा और विरोध अनुभव करते थे। उनके पास जो कुछ था पीछे छोड़ आये थे। पेट में अन्न और शरीर पर वस्त्र के लिये थोड़े बहुत पैसे की आवश्यकता थी ही। तिस पर लम्बे-लम्बे सफ़र और हथियार खरीद सकने के लिये रुपये की ज़रूरत। जनता से माँग न सकने की अवस्था में धन पाने का एक ही उपाय था, राजनैतिक डकैती। इसलिये क्रान्ति के जितने भी प्रयत्न हुये, उनका आरम्भ प्रायः राजनैतिक डकैती से हुआ। इस समय भी दल के सामने यही समस्या थी परन्तु अब दल के लोग डकैती को अपने और जनता के बीच घृणा की खाइ पैदा करने वाली चीज़ समझ रहे थे। इस समय क्रान्तिकारियों ने छात्रवृत्तियाँ पढ़ा-पढ़ा कर स्वयं थोड़ा बहुत कमा कर जैसे तैसे काम चलाया। कानपुर में विजय इस समय अंग्रेज़ी पत्रों के संवाददाता के रूप में अच्छी कमाई कर रहा था और प्रति मास सौ-डेढ़ सौ दल के काम के लिये दे देता।

इन दिनों बनारस में केवल एक ही साहसपूर्ण काण्ड मणीन्द्रनाथ बैनर्जी ने किया था। मणि को रायबहादुर जे० बैनर्जी को गोली मारने का काम सौंपा गया था। राय बहादुर बैनर्जी राजनैतिक षड्यंत्रों की तहकीकात करने में बहुत प्रसिद्धि पाये हुए थे। काकोरी के मामले में भी उन्होंने खास काम किया था। अंग्रेज़ी सरकार ने उनकी सेवाओं से सन्तुष्ट हो कर ही उन्हें रायबहादुर के पद से सुशोभित किया था।

रायबहादुर मणीन्द्र के मामा थे। मणि ने कर्तव्य के आगे सम्बन्ध की ममता की उपेक्षा की। बाज़ार में रायबहादुर के मिलने पर उसने इन पर गोली चला दी और औसान भी इतने कायम रखे कि पिस्तौल साथ के आदमी के हाथ खिसका दिया। मणीन्द्रनाथ कितने असाधारण साहस का आदमी था; यह प्रसंग फतेहगढ़ केन्द्रीय जेल में उसकी मृत्यु के प्रसंग

में कहूँगा। गोली तो रायबहादुर के लग गई परन्तु वे रहे जिन्दा ही और राजभक्ति का धर्म पूरा करते हुये पुलिस के काम पर भी डटे रहे। वे लाहौर षड़यंत्र केस में तहकीकात करने भी पहुँचे और बाद में मुझे भी उनसे सम्पर्क पड़ा। मेरी उनकी जैसी पटी, वह अपने मुकद्दमे के जिक्र में कहूँगा।

युक्तप्रान्त में उन दिनों बहुत निरुत्साह था। सशस्त्र क्रान्ति के बढ़ने की कोई आशा थी तो केवल काकोरी के बन्दियों को छुड़ा सकने से। यह योजनायें बार-बार बनतीं और प्रयोग में आये बिना ही रह जातीं। इसी अवस्था से ऊब कर शहीद रामप्रसाद 'बिस्मिल' ने अपनी प्रसिद्ध गजल द्वारा जेल से सन्देश भेजा था:—

"मिट गया जब मिटने वाला फिर सलाम आया तो क्या ;

दिल की बरबादी के बाद उनका पयाम आया तो क्या ?"

बिस्मिल की बड़ी इच्छा थी कि एक बार किसी तरह जेल से निकल कर विदेशी सरकार से दो-दो हाथ कर पाते, परन्तु दल में इतनी शक्ति नहीं थी, यह योजनायें कपोल कल्पनायें ही रह गईं।

युक्तप्रान्त के दादाओं से निराश हो शिववर्मा ने शहीद बिस्मिल से जेल में भेंट कर परामर्श लेना चाहा। खास तौर पर दल के शस्त्रों के सम्बन्ध में पता लेने की जरूरत थी। बिस्मिल गोरखपुर जेल में थे। उनकी फांसी के लिये १७ दिसम्बर की तारीख निश्चित हो चुकी थी।

फांसी पाने वाले व्यक्ति को फांसी से एक दिन पहले उसके सगे सम्बन्धियों से भेंट का अवसर दे दिया जाता है। शिव इसी आशा से गोरखपुर पहुँचा था कि सम्बन्धी बन बिस्मिल के पिता के साथ जा कर जेल में भेंट कर सकेगें। बिस्मिल के पिता ने शिव को साथ ले जाने से इनकार कर दिया परन्तु शिव फिर भी जेल के फाटक पर जा ही पहुँचे।

बिस्मिल के पिता शाहजहांपुर से मां को साथ न लाये थे। डरते थे कि मां बहुत रोयें-धोयेंगी। यह लोग जेल के फाटक पर पहुँचे तो मां वहां पहले से मौजूद थीं। शिव ने साहस कर मां से बात की—"मैं पार्टी की ओर से बिस्मिल से भेंट करना चाहता हूँ। पिताजी मुझे साथ ले जाने के लिये तैयार नहीं। आप ले चलें तो कृपा होगी।"

मां ने आश्वासन दिया—"तुम बिस्मिल की पार्टी के आदमी हो तो

मैं तुम्हें साथ ले जाऊँगी। तुम से कोई पूछे तो कह देना मेरे भतीजे हो, शेष मैं समझ लूंगी।"

मां शिव को साथ ले गईं और बातचीत भी करा दी। 'चांद' के फांसी-अंक में बिस्मिल और उनकी माता की अन्तिम भेंट का जो मार्मिक वर्णन प्रकाशित हुआ था, वह गुप्त नाम से शिव ने ही लिखा था। मां जब बिस्मिल के सामने पहुँची, बिस्मिल रो पड़े।

मां ने कड़ाई से डांट दिया—"यह क्या कायरता दिखा रहे हो! मैं तो बड़े अभिमान से सिर ऊँचा करके आई थी कि मेरी कोख से ऐसे बहादुर ने जन्म लिया है जो अपने देश की आजादी के लिये विदेशी सरकार से लड़ रहा है। मुझे गर्व था कि मेरा बेटा उस सरकार से भी नहीं डरता जिसके राज में सूर्य अस्त नहीं हो सकता और तुम रो रहे हो! यदि फांसी से डर था तो इस मार्ग पर कदम ही क्यों रखा था!"

बिस्मिल ने आंखें पोंछ मां को विश्वास दिलाया कि उनके आंसू मौत के भय से नहीं, माता के प्रति ममता के थे। बिस्मिल ने अपने रोते हुए पिता को भी सान्त्वना दी—"आप मर्द होकर रोते हैं! आप से तो आशा थी कि मां को सान्त्वना देंगे।"

उस समय शिव फांसी की कोठड़ी के द्वार पर हुई इस भेंट के वर्णन में यह नहीं लिख सकते थे कि बिस्मिल ने आन्दोलन को बढ़ाने के लिये क्या सलाह दी। सलाह यही थी कि बाहर अब भरोसे लायक आदमी नहीं हैं। पार्टी के हथियारों के दो पते उन्होंने बताये थे जिनमें से एक तो था दूर देहात में और दूसरा शाहजहांपुर के एक कायस्थ वकील साहब के यहाँ। शिव दूर देहात तक तो पहुँच न सके। वकील साहब के यहाँ गये। वकील साहब को पहले तो सन्देह हुआ कि उनके साथ चाल चली जा रही हो परन्तु जब उन्हें पार्टी के साथ बेइमानी करने के दण्ड की बात बताई गई तो उन्होंने चार रिवाल्वर और काफी कारतूसों की एक गठड़ी शिव को सौंप दी।

काकोरी के अभियुक्तों को छुड़ाने की योजना में सहयोग देने के लिये जयचन्द्र जी ने लाहौर से भगतसिंह, सुखदेव और शायद बलदेव को भी कानपुर भेजा था। यह योजना तो अनेक दुविधाओं के कारण आगमाई न जा सकी परन्तु इन लोगों के कानपुर आने-जाने से युक्तप्रान्त

और पंजाब के सक्रिय लोगों के पारस्परिक सम्पर्क का अवसर बन गया। दूसरी बार फिर कुछ ऐसी ही बात हुई; जोगेशचन्द्र चैटर्जी (काकोरी के बन्दी) फतेहगढ़ जेल में थे। उनका तबादला आगरा केन्द्रीय जेल में होने वाला था। विचार हुआ कि इस अवसर पर उन्हें छुड़ा लेने का यत्न किया जाये। योजना को भरोसे लायक बनाने के लिये कानपुर से शिव और विजय फतेहगढ़ गये कि जेल में चैटर्जी से भेंट कर बात पक्की कर लें। परन्तु फतेहगढ़ में जेल में कुछ और ही गुल खिल चुका था। जेल का एक वार्डर चैटर्जी का सहायक और भरोसे का था। इस वार्डर से एक दूसरे कैदी की लाग-डांट थी। इस कैदी ने वार्डर को चोट पहुँचाने के लिये जेल के अधिकारियों से झूठ-मूठ शिकायत कर दी कि इस वार्डर ने चैटर्जी को पिस्तौल ला कर दिया है। जेल के अधिकारी चैटर्जी से शंकित हो रहे थे। इसी समय विजय और शिव ने जाकर चैटर्जी से भेंट करने के लिये दर्खास्त दे दी।

जेल के अधिकारियों ने शिव और विजय के पीछे खुफिया पुलिस लगा दी। चैटर्जी से भेंट तो न हो सकी अलबत्ता पुलिस इनके पीछे पड़ गई। यह लोग जब निश्फल लौट रहे थे, फतेहगढ़ स्टेशन पर इन दोनों ने अपने को पुलिस से घिरा हुआ पाया। इनके टिकटों के नम्बर और स्थान नोट कर लिये गये थे। दोनों को सन्देह हुआ कि हमें बीच के किसी स्टेशन पर गिरफ्तार कर लिया जायगा। फतेहगढ़ से अगले स्टेशन जलालाबाद पर जब गाड़ी रुकने के बाद तेजी पकड़ रही थी, शिव कूद गया। उसके पीछे एक सिपाही भी कूदा परन्तु शिव पहले से तैयार था और सिपाही बिना तैयारी के कूदा था, सिपाही चटिया गया और शिव भाग गया। जलालाबाद से अगले स्टेशन पर विजय भी कूद गया। उसका पीछे कूदने का साहस किसी सिपाही ने नहीं किया।

शिव और विजय गाड़ी से कूद कर तो भाग गये परन्तु फतेहगढ़ से आई पुलिस ने इन्हें कानपुर में फिर पहचान लिया और प्रतिक्षण इनका पीछा करने लगी। पुलिस दफ्तर के अपने आदमी से भी पता लगा कि इन लोगों के नाम गिरफ्तारी के वारंट जारी करवाये जा रहे हैं। यह दोनों फरार हो गये।

जिस समय भगतसिंह ने लाहौर छोड़ा पंजाब दिल्ली युक्त प्रान्त, राजपूताना, बिहार और बंगाल में पारस्परिक सम्बन्ध शिव वर्मा और

विजय की मार्फत नाम मात्र को ही था। पंजाब और युक्तप्रान्त का सम्बन्ध लाहौर में जयचन्द्र जी और इलाहाबाद में सान्याल परिवार के ही हाथों में था। इन दोनों में ही अपना स्थान छोड़ कर संकट बटोरने की प्रवृत्ति नहीं थी। युक्तप्रान्त के साथी जे० एन० सान्याल की शिथिलता से ऊब रहे थे और लाहौर के साथी जयचन्द्र जी की सतर्कता से। इस लिये शिव वर्मा और भगतसिंह ने अपने स्वतंत्र सूत्र बना लिये थे। अब सुखदेव, भगतसिंह, विजय और शिव मिल कर क्रान्ति का ताना-बाना बुनने लगे।

× × ×



हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र सेना

(H. S. R. A. = हिसप्रस)

भगतसिंह, सुखदेव, विजय, और शिव वर्मा के प्रयत्नों से उत्तर भारत के प्रान्तों के क्रांतिकारी प्रतिनिधियों की एक बैठक की योजना दिल्ली में की गई थी। यह बैठक ८ और ९ सितम्बर १९२८ को 'फिरोजशाह-किले' के खण्डहरों में हुई थी। इस बैठक में पञ्जाब से सुखदेव और भगतसिंह, राजपूताना से कुन्दनलाल, युक्तप्रांत से शिव वर्मा, ब्रह्मदत्त मिश्र, जयदेव, विजयकुमार सिन्हा, सुरेन्द्रनाथ पांडे और बिहार से मणीन्द्रनाथ घोष और मनमोहन बैनर्जी आये थे। आजाद इस बैठक में नहीं आ पाये थे। भगतसिंह और शिव उनसे मिल चुके थे। आजाद ने आश्वासन दे दिया था कि बहुमत से जो कुछ निश्चय होगा, उसे वे स्वीकार कर लेंगे। बंगाल के प्रतिनिधि भी इस बैठक में शामिल नहीं थे। शिव वर्मा कलकत्ता जा कर बंगाल के लोगों से सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा कर आया था। बंगाल के उस समय क्रान्तिकारी नेताओं ने सहयोग देने के लिये विकट शर्तें रखीं। उनकी पहली शर्त थी कि सभी प्रान्तों का क्रान्तिकारी आन्दोलन 'अनुशीलन' दल के तत्कालीन नेता के व्यक्तिगत निरंकुश अनुशासन में रहेगा। दूसरी शर्त थी कि अभी केवल साथी भर्ती करने, रुपया और हथियार इकट्ठा करने का ही काम किया जाये। किसी ऐसे काम में हाथ न डाला जाय जिससे सरकार के चौंकने की आशंका हो!

नये उठते संगठन को अनुशीलन की पहली ही शर्त मंजूर नहीं थी। यह ठीक है कि इससे पहले क्रान्तिकारी दलों में 'दादा' लोगों का व्यक्तिगत अनुशासन ही चलता आया था। पंजाब में जयचन्द्र जी और युक्त-

प्रान्त के जे० एन० सान्याल का निष्क्रिय परन्तु निरंकुश नेतृत्व उसी 'दादा-डम' की परम्परा का परिणाम था और हम लोग इससे ऊब चुके थे। हम लोगों में प्रजातंत्र की भावना जाग चुकी थी। हम प्रान्तीय दलों का केन्द्रीय-करण करना चाहते थे परन्तु व्यक्तिगत तानाशाही के अधीन नहीं, संयुक्त उत्तरदायित्व और नेतृत्व द्वारा। 'अनुशीलन' के नेता ने निरंकुश नेतृत्व की मांग तो की परन्तु उनका प्रबन्ध और सामर्थ्य ऐसा था कि शिव वर्मा को कलकत्ते में एक रात टिकाने के लिये वे प्रति दिन अपने चार-पांच गुप्त स्थान दिखा देते और जगह न पा सकते। शिव वर्मा के अनुभव और परामर्श के आधार पर बंगाल से सहयोग की आशा छोड़ दी गयी।

पहले-पहल दिल्ली की बैठक में ही सशस्त्र क्रान्तिकारी प्रयत्न के लिये अन्तर-प्रान्तीय आधार बनाया गया। जयचन्द्र जी और जे० एन० सान्याल दोनों को ही इस बैठक से अलग रखा गया, क्योंकि साथी पुरानी रूढ़ि को छोड़ कर आन्दोलन के लक्ष्य और संगठन के लिये नया मार्ग अपनाना चाहते थे। अब तक भिन्न-भिन्न प्रान्तों में क्रान्तिकारी दलों के अपने अपने नाम थे बंगाल-बिहार में 'अनुशीलन' और 'युगान्तर' समितियां, युक्तप्रान्त में 'हिन्दुस्तान प्रजातंत्र सेना' 'बनारस रेवोल्यूशनरी पार्टी'। पंजाब में भी युक्तप्रान्त की ही शाखा जयचन्द्र जी की मार्फत बनाई जा रही थी। दिल्ली की बैठक में भगतसिंह और सुखदेव ने सभी प्रान्तों से प्रतिनिधि लेकर एक केन्द्रीय-समिति (सेन्ट्रल कमेटी) बनायी जाने और पूरे संगठन का नाम 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी' "हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातन्त्र सेना" रखे जाने का प्रस्ताव रखा।

अपने संगठन के नाम में 'सोशलिस्ट' या 'समाजवादी' शब्द जोड़ने की इच्छा को इस बात का प्रमाण नहीं बता दिया जा सकता कि हमने मार्क्सवाद का वैज्ञानिक सिद्धान्त और आन्दोलन का ढंग खूब समझ लिया था; लेकिन इसमें भी सन्देह नहीं कि अपनी समझ और ज्ञान की सीमा के अनुसार हम उस ओर बढ़ रहे थे। मुख्य बात यह थी कि हम शोषण के श्रेणी आधार को समझ चुके थे, किसान-मजदूरों का राज हमारा लक्ष्य बन चुका था, परन्तु किसान-मजदूर श्रेणी की शक्ति को संगठित करने और इस श्रेणी के अपने प्रयत्न से आत्मोद्धार करने के वैज्ञानिक ढंग तक हम नहीं पहुँच पाये थे। हम लोग मार्क्स, लेनिन और स्टैलिन के इस वैज्ञानिक सत्य को नहीं अपना पाये थे

कि जनता के बन्धनों को तोड़ना, उन्हें स्वतंत्रता और आत्मनिर्णय का अधिकार देना स्वयम जनता के अतिरिक्त किसी दूसरी शक्ति या महा-पुरुष के बस की बात नहीं। यह काम जनता अपनी संगठित शक्ति से ही कर सकती है। जनता के सचेतन अंगों का काम जनता में इसी शक्ति का जागरित केन्द्र बनाना ही है। हम लोग मूक, शोषित जनता के लिये बलिदान हो जाना तो चाहते थे परन्तु उसमें मिल नहीं पाये थे, ठीक वैसे ही जैसे गांधी जी अपने या अपने जैसे दो चार लोगों के व्यक्तिगत आत्मिक बल से जनता का उद्धार कर देना चाहते थे।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि निष्क्रिय होते जाते पुराने क्रान्ति-कारी ढंग से ऊब जाने वाले सभी साथी समान रूप से मार्क्सवाद की ओर झुके हुये थे। आजाद, राजगुरू आदि को पुराने ढंग की निष्क्रियता में कायरता देख कर ही घृणा हो रही थी। शोषित जनता के प्रति उन की सहानुभूति केवल भावात्मक ही थी। इस दृष्टि से दल के भीतर सबसे आगे था पंजाब! उसके दो कारण थे। एक तो उस समय से पहले के 'पंजाबी कम्युनिस्टों' द्वारा लाया गया समाजवादी गुप्त साहित्य, 'किर्ति-किसान'* पार्टी का प्रभाव और लाला लाजपतराय जी के 'द्वारकादास पुस्तकालय' में नवीनतम समाजवादी साहित्य का मिल सकना। सोशलिस्ट शब्द जोड़े जाने का सुझाव भगतसिंह और सुखदेव ने ही दिया था परन्तु युक्तप्रान्त के शिव वर्मा और विजयकुमार सिन्हा का भी सबल अनुमोदन इनके साथ था। यह लोग कानपुर के संगठित मजदूर आन्दोलन द्वारा प्रभावित हो चुके थे। और कानपुर की मजदूर सभा से भी सम्पर्क बना चुके थे। इन लोगों पर सन १९२४ के 'कानपुर बोल्शेविक षड्यंत्र' का भी प्रभाव जरूर पड़ा होगा। सबसे बड़ी बात तो थी सन १९२८ में जगह-जगह हड़तालों द्वारा मजदूरों की चेतना और शक्ति का प्रदर्शन। हिसप्रस के साथी मजदूर श्रेणी की क्रान्तिकारी शक्ति से परिचित होने लगे थे।

क्रान्तिकारी और आतंकवादी में भेद है। भारतीय क्रान्तिकारियों की भावना और नीति कोई निर्जीव और परिमित पदार्थ नहीं था। वह एक उठती और पनपती चीज थी। उस में प्रतिदिन अंतर आ रहा था।

* मज़दूर-किसान पार्टी।

भगतसिंह ने अदालत के सन्मुख अपने बयानों में स्पष्ट रूप से 'मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का अन्त करना' अपना लक्ष्य बनाया था। सन् १९३१ में हिसप्रस के घोषणा पत्र जो कमाण्डर-इन-चीफ यशपाल के नाम से प्रकाशित हुये थे, उनमें हम लोगों का ध्येय स्पष्ट रूप से किसान-मजदूरों का प्रजातंत्र बताया गया था। यह बात मैंने पहले ही स्वीकार करली है कि श्रेणी संघर्ष के वैज्ञानिक ढंग को हम अपना नहीं पाये थे। सन् १९२८ में हम लोग क्या और कैसे समझते थे, हम लोग जनता से कितनी दूर या पास आ रहे थे, यह बात हमारे उस समय के व्यवहार से ही अधिक स्पष्ट हो जाती है।

दिल्ली में 'फीरोजशाह' के खण्डहर में क्रान्तिकारियों के प्रतिनिधियों की जो अन्तरप्रान्तीय सभा हुई थी उसमें कुछ खास बातें तय हुई थीं। सशस्त्र क्रान्ति के काम को आगे बढ़ाने के लिये धन की अनिवार्य जरूरत होगी। गुप्त आन्दोलन चन्दे से धन इकट्ठा नहीं कर सकता। इसके लिये डकैतियां करनी होंगी परन्तु जहां तक सम्भव हो डकैतियां सरकारी बैंकों, खजानों या डाकखानों में की जायें। देहात के अमीर लोगों के यहां डकैती करने से जनता में हमारे प्रति घृणा पैदा हो जाती है, इस बात को दल अपने लिये हानिकारक समझता था।

क्रान्तिकारियों की बहुत सी शक्ति मुकदमों में बन गये मुखबिरों और पुलिस के मामूली अफसरों के वध में ही नष्ट होती रही थी। दिल्ली में निश्चय किया गया कि अब केवल ऐसे ही मामलों को हाथ में लिया जाये जिनका सार्वजनिक महत्व हो। इस उद्देश्य से सबसे पहले चुना गया साइमन कमीशन को! साइमन कमीशन के प्रति जनता में प्रबल असंतोष उबल रहा था। साइमन कमीशन के आने पर बम्बई में मजदूरों की जो व्यापक हड़ताल हुई थी उससे अपना सहयोग प्रकट करना दल आवश्यक समझता था।

दिल्ली की बैठक में यह भी स्पष्ट रूप से निश्चित कर लिया गया कि भविष्य में हमारा कार्यक्रम किसी एक व्यक्तिगत नेतृत्व में नहीं चलेगा। दल के सब हथियार और प्राप्त होने वाला धन केन्द्रीय समिति के हाथ में रहेंगे। कोई भी कार्य करने से पहले सात आदमियों की केन्द्रीय समिति में उस पर विचार किया जायगा।

इस बैठक में विजय कुमार सिन्हा और भगतसिंह पर अन्तर्प्रान्तीय

सम्बन्ध बनाये रखने का उत्तरदायित्व दिया गया। सुखदेव को पञ्जाब, शिव वर्मा को युक्तप्रान्त, कुन्दनलाल को राजपूताना फणीन्द्रनाथ को बिहार का प्रतिनिधि संगठनकर्ता स्वीकार किया गया। हथियारों और कोष की कमी के कारण यह निश्चय किया गया कि हथियार और कोष पूर्णतः केन्द्रीय-समिति के हाथ में रहें। कोष वास्तव में कुछ था ही नहीं। हथियार भी कम ही थे, इसलिये यह तय पाया कि जिस प्रान्त में जब आवश्यकता हो, हथियार भेज दिये जायें और फिर लौटा कर केन्द्रीय समिति में दे दिये जायें।

इससे पूर्व के दल में से चन्द्रशेखर आजाद ही ऐसे व्यक्ति थे जो ज्येष्ठ (Senior) होने का दम्भ छोड़ कर नये लोगों के साथ नये ढंग से काम करने के लिये तैयार थे। आजाद के अतिरिक्त उस समय नये लोगों में से शस्त्रों का उपयोग भी कोई दूसरा ठीक से नहीं जानता था। इसलिये सशस्त्र या सैनिक कार्य का नेता उन्हीं को बना कर 'हिसप्रस' का कमाण्डर-इन-चीफ़ निश्चित किया गया।

चन्द्रशेखर आज़ाद

श्री मन्मथनाथ गुप्त की पुस्तक से ध्वनि निकलती है कि काकोरी के दल में भी आजाद बहुत साहसी और भरोसे लायक नवयुवक माने जाते थे परन्तु उस समय दल में उनका खास महत्व नहीं था। जो भी हो, 'हिसप्रस' में आजाद का स्थान बहुत महत्वपूर्ण था लेकिन इसका यह अर्थ भी नहीं कि वे 'हिसप्रस' के एक मात्र नेता थे। 'हिसप्रस' में एक मात्र नेता के लिये स्थान ही न था। आजाद की सैद्धान्तिक स्थिति के बारे में बहुत विवाद चलता रहा है। मन्मथ गुप्त ने उन्हें कम्युनिस्ट बता दिया। सुखदेवराज ने कह डाला कि आजाद सिद्धान्त से कोई मतलब ही नहीं रखते थे। आजाद से मेरा परिचय ऐसा था जैसे पहनने के कपड़ों से होता है; झगड़ा और अनुमति दोनों ही चलती थी। आजाद की सैद्धान्तिक स्थिति 'हिसप्रस' की भावना और नीति के साथ-साथ चलती थी। वे दल की नीति और सिद्धान्तों से न बेखबर थे न बेपरवाह!

आजाद के बारे में यह भी कौतूहल पाया जाता है कि वह बहुत विद्वान थे या निरे अपढ़। आजाद ने स्कूल कालिज की शिक्षा नहीं पायी

थी परन्तु यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि ग्रेजुएट तैयार करने वाले कारखानों (यूनिवर्सिटियों) से सम्बन्ध न रख सकने वाले सभी लोग मूर्ख और अपढ़ होते हैं। इस लिहाज से अकबर, रणजीतसिंह और शिवाजी को क्या कहियेगा ? यह लोग हजरत मुहम्मद की तरह अक्षर ज्ञान के दोष से सर्वथा मुक्त थे। इन लोगों को अपढ़ या मूर्ख नहीं माना गया। आजाद बहुत कुछ उसी ढंग के इनसान थे। जगह-जगह दल के डेरे बन जाने और साथियों के एक साथ रहने की सुविधा होने पर आजाद, सामयिक समस्याओं अथवा सिद्धान्त के सम्बन्ध में जिस पुस्तक की प्रशंसा सुनते जरूर ले आते। उसे पढ़वा कर अनुवाद सुनते और तर्क में भाग लेने का भी यत्न करते।

इस समय आर्थिक कठिनाई का यह हाल था कि दिल्ली की केन्द्रीय-सभा में आने वाले प्रान्तीय प्रतिनिधि दोनों तरफ का किराया भी न जुटा पा रहे थे। केन्द्रीय-समिति की बैठक होते समय जब आठ-दस रुपये की आवश्यकता हुई तो विजयकुमार ने विहार से आए फणीन्द्र घोष का वापसी टिकट बेच कर काम चलाया। ऐसी अवस्था में सबसे पहले आर्थिक समस्या को हल करने की चिन्ता करना आवश्यक था। फणीन्द्रनाथ घोष ने, जो कि प्रथम लाहौर षड़यंत्र केस के मामले में मुखबिर बन गया था, बेतिया में डकैती की आयोजना करने का आश्वासन दिया। भगतसिंह और आजाद हथियार लेकर बेतिया पहुँचे। कई दिन उन्होंने बेतिया के मारवाड़ियों की दुकानों को जांचा और परखा परन्तु सफलतापूर्वक डकैती करने की सुविधा कहीं दिखाई न दी। वे निराश लौट आये।

योजनायें तो बहुत सी सामने थीं। साइमन कमीशन भारत में आया हुआ था। इस कमीशन पर बम फेंक कर भारतीय प्रजा का असन्तोष प्रकट करने के लिये भगतसिंह का प्रस्ताव दिल्ली की केन्द्रीय समिति की बैठक में स्वीकार किया जा चुका था परन्तु रुपये के अभाव में यह होता कैसे ? इस बीच दल की आज्ञा से कैलाशपति गोरखपुर के डाकखाने से लगभग एक हजार आठ सौ रुपये उठा कर भाग आया था। कैलाशपति डाकखाने में काम कर रहा था। यह डकैती कर वह भी फरार हो गया। इस छोटी सी रकम के आधार पर ही काम चल रहा था।

लाहौर में नौजवान भारत सभा को यह निर्देश दिया गया था कि नगर में साइमन कमीशन के आने पर जहां तक हो सके सभी राजनैतिक दलों को मिलाकर विकट से विकट प्रदर्शन किया जाये। कांग्रेस को तो साइमन कमीशन के विरुद्ध यही शिकायत थी कि सौ खुशामदें करने पर भी उसमें कांग्रेस का कोई प्रतिनिधि नहीं रखा गया। नौजवान भारतसभा की पुकार थी कि "अंग्रेज सरकार को हमारे भाग्य निर्णय का अधिकार नहीं। वे कमीशन भेजने वाले कौन होते हैं?" इस सम्बन्ध में नौजवान भारतसभा को बम्बई के मजदूरों की "साइमन कमीशन लौट जाओ" हड़ताल और विकट प्रर्शदन का उदाहरण मिल चुका था। लाहौर में साइमन कमीशन के बहिष्कार के प्रदर्शन का नेतृत्व सभा ही कर रही थी। सब ओर मुकम्मिल हड़ताल, काले झंडे और नंगे सिरों की बाढ़ सी नजर आती थी। इतने बड़े प्रदर्शन से प्रभावित हो कर कांग्रेस के नेताओं को प्रदर्शन में आगे चलना ही पड़ा।

वृद्ध पंजाब केसरी लाला लाजपतराय को भीड़ के धक्कों से बचाये और धूप में उनके सिर पर छतरी सँभाले नौजवान उन्हें स्टेशन तक ले गये। भीड़ के आगे नौजवान भारतसभा के लोग थे। उन्होंने पुलिस की धमकियों के बावजूद कमीशन के लिये रास्ता देने से इन्कार कर दिया। वे कमीशन को काले झंडे दिखा देने और 'साइमन गो बैक' की पुकार उन के कानों तक पहुँचा देने पर तुले हुए थे। पुलिस ने लाठीचार्ज किया। सभा के लोगों से जहाँ तक बन पड़ा, जनता को पीछे हटने से रोके रहे। जनता के हृदय में अंग्रेजी सरकार के प्रति प्रबल घृणा उत्पन्न कर सकने का यह अच्छा अवसर था।

लाला लाजपतराय जी के पीछे भीड़ इतनी थी कि पीछे हट सकने का कोई अवसर न था। सामने से पुलिस लाठी-चार्ज कर रही थी। नवयुवक लाला जी को चारों ओर से घेर कर चोट से बचाये थे। पुलिस की मार के बावजूद यह मोर्चा टूट नहीं पा रहा था। भगवती चरण, सुखदेव और मैं वहीं एक ओर मौजूद थे। साथी धन्वन्तरी और एहसान आदि मोर्चे में शामिल थे। लालाजी को घेरे इस मोर्चे को टूटते न देख समीप खड़े पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट स्काट ने इस टोली पर हमला करने की आज्ञा दी। डी० एस० पी० सांडर्स स्वयं छोटी लाठी हाथ में ले सिपाहियों के साथ इस टोली पर टूट पड़ा। उसकी एक

लाठी से लाला जी के सिर पर तनी हुई छतरी टूट कर उनके कन्धे पर भी चोट आ गयी।

नौजवान साथी अब भी लाला जी को घेर कर जमे रहने के लिये तैयार थे परन्तु चोट खाने के बाद लाला जी ने हुक्म दे दिया - "पुलिस की इस जालिमाना हरकत की मुखालफत में मुजाहिरे को मुल्तवी कर दिया जाये" (पुलिस के इस अमानुषिक व्यवहार के विरोध में प्रदर्शन स्थगित कर दिया जाये)। हतोत्साह होकर नौजवानों को प्रदर्शन स्थगित कर देना पड़ा।

उस दिन हम लोगों ने 'पापड़ मंडी' में भी मार खाई। लाला लाजपतराय जी की आज्ञा से प्रदर्शन स्थगित हो जाने पर भीड़ के दल काले झण्डे लिये। "साइमन गो बैक" के नारे लगाते हुए बाजारों में घूमने लगे। कहीं किसी बहुत ही राजभक्त की दुकान खुली दिखाई दे जाने पर प्रदर्शन करके उसे बन्द करा दिया जाता। हम लोग, भगवतीचरण और मैं, 'पापड़ मण्डी' से गुजरने वाली टोली के पीछे-पीछे थे। इस टोली के आगे-आगे उस समय के राष्ट्रवादी मुसलमान नेता मौलाना जफ़रअली थे। इस बाजार में केवल एक दुकान रायबहादुर लछमनदास की खुली थी। उनकी आढ़त की कोठी का बड़ा फाटक बन्द नहीं था। भीड़ ने आग्रह किया कि यह फाटक बन्द होना चाहिये।

रायबहादुर हिन्दूसभा के नेता और विशेष राजभक्त थे। लाहौर भर में मशहूर उनका अपना एक दल था। इस दल का नाम और दबदबा भी कम नहीं था। हवेली की चारदीवारी के भीतर ही अखाड़ा था, जहाँ उनका दल कुश्ती और लठैती के करतब सीखता था। रायबहादुर ने भीड़ के आग्रह से परास्त होना स्वीकार न किया। भीड़ में चालीस-पचास आदमी होंगे। यह लोग आवेश में हवेली के फाटक में धंसने लगे। फाटक के तंग मोहरे में अटी भीड़ पर भीतर से पन्द्रह-बीस आदमी लाठी और बाने लेकर पिल पड़े। इस भीड़ में अधिकांश तमाशबीन ही थे। मार पड़ती देख लोग भागे। भगवतीचरण और मैं भीड़ से जरा अलग-अलग चल रहे थे। मौलाना भी फाटक के भीतर नहीं गये थे। मार पड़ती देख मौलाना सब से आगे-आगे भागे।

भगवती भाई ने आवाज दी—"मौलाना ठहरिये, इन लोगों को समझाइये!"

मौलाना ने पीछे देखे बिना तेजी से आगे बढ़ते हुए हाथ उठा कर उत्तर दिया—"इन बेरहमों से कहो, बच्चों को क्यों मारते हो, मारना हो तो आकर मुझे मारें।" वे तेजी से लोहारी दरवाजे की ओर बढ़ते चले गये।

भीड़ के यों भागने से हमें लज्जा मालूम हुई। हम लोगों ने आगे जा भीड़ का साहस बढ़ाने की चेष्टा की—"भागिये नहीं!" रायबहादुर के आदमियों ने हमीं लोगों को लाठी का निशाना बनाया। एक लाठी पूरे जोर से मेरे सिर पर आकर पड़ी। गनीमत यह थी कि मैं कुलहे पर पगड़ी बांधे था फिर भी चकरा कर गिर पड़ा। शायद पन्द्रह या बीस सेकण्ड के बाद होश में आकर उठा। कुल्हा-पगड़ी बाजार के दूसरी तरफ़ पड़ी हुई दिखाई दी। कुछ कदम पर भगवतीचरण एक दूकान के खम्बे का सहारा लिये खड़े थे। उनके माथे से खून बह रहा था।

समीप जा कर देखा, चोट ज्यादा मालूम नहीं दी परन्तु उनकी ऐनक गिर गई थी। बिना ऐनक के कोई चीज ढूँढ़ लेना उनके लिये संभव नहीं था। मैंने आसपास नज़र दौड़ाई। ऐनक दिखाई नहीं दी। इस बीच बाजार में भीड़ का कोई भी आदमी शेष नहीं रह गया था। पहले ही कह चुका हूँ कि यह भीड़ बाज़ारी जनता की थी जो मुख्य प्रदर्शन के पचासों टुकड़ियों में बँट जाने पर इस ओर से गुज़र रही थी।

उस संध्या कांग्रेस की ओर से 'मोरी दरवाजे'... के बाहर मैदान में कमीशन के विरोध में एक सार्वजनिक सभा हुई। लाला लाजपतराय जी भाषण दे रहे थे। आज पाठकों को यह सुन कर विस्मय होगा कि सुबह जिस आन्दोलन पर भयंकर लाठी-चार्ज हुआ हो, सन्ध्या समय वही आन्दोलन सार्वजनिक सभा कर सके परन्तु वह विदेशी राज था। जिसे दूर करने के लिये हम लोग प्राणों की बाज़ी लगाये हुये थे। अब है रामराज। आज मामूली नाटक भी आप करना चाहें तो सरकार से लिखित आज्ञा लेना आवश्यक है और आज्ञा पाने से पहले नाटक की प्रति पुलिस को दिखा देना जरूरी है।

'मोरी दरवाजे' की विराट सार्वजनिक सभा में सुखदेव और मैं भीड़ के पीछे खड़े थे। हम लोगों से कुछ ही कदम दूर डिपटी पुलिस सुपरिंटेन्डेन्ट नील खड़ा था। लाला जी ने अपनी ओजपूर्ण वक्तृता

में सुबह की घटना की निन्दा करते हुए कहा—"जो सरकार निहत्थी प्रजा पर इस तरह के ज़ालिमाना हमले करती है, उसे तहज़ीबयाफ्ता (सभ्य) सरकार नहीं कहा जा सकता और ऐसी सरकार कायम नहीं रह सकती। मैं आज चैलेंज देता हूँ कि इस सरकार की पुलिस ने मुझ पर जो वार किया है वह एक दिन इस सरकार को ले डूबेगा।" अंग्रेज़ अफ़सरों को लक्ष्य कर लाला जी ने अपनी बात अंग्रेजी में दोहराई—"I declare that the blows struck at me will be the last nails in the coffin of the British rule in India."

नील लाला जी की इस घोषणा पर दांत निकाल कर हँस पड़ा। उसका वह हँसना मेरे कलेजे में कील की तरह उतर गया। मैंने सुखदेव को संबोधन किया—"This is intolerable." (यह असह्य है)

सुखदेव मुस्करा दिया—"लाला जी धमकी तो दे रहे हैं, करेंगे क्या? विरोध में प्रदर्शन स्थगित कर दिया, अब और नाराज़ होंगे तो रूठ कर चुप हो जायंगे।" बात यहीं समाप्त नहीं हो गयी। हम लोग आपस में बात करते रहे कि इस घटना को यों ही नहीं जाने देना चाहिये।

× × ×

१७ नवम्बर १९२८ को लाला जी का देहांत हो गया। जनता में विदेशी शासन-विरोधी भावना और लालाजी के लिये आदर उमड़ रहे थे लाला जी की अर्थी के जुलूस में लाख-डेढ़ लाख आदमी रहे होंगे। डा० गोपीचन्द्र जी भार्गव तो बिलख-बिलख कर रोये। लाहौर में ऐसा कोई भी हिन्दू-मुसलमान न होगा जिसने मातम न मनाया हो। लाहौर के सभी स्वयंसेवक दलों ने शव यात्रा के प्रबन्ध में साथ दिया परन्तु हम लोगों की सेवासमिति पर बोझ अधिक था। प्रायः दस बजे सुबह अर्थी की यात्रा लाला जी के बँगले से आरम्भ हुई और चार मील दूर रावी नदी के तट पर पहुँचते-पहुँचते संध्या के पांच बज गये। अर्थी पर फूलों का बोझ इतना था कि बीसियों आदमी उसे उठा कर चल रहे थे और दस-पाँच कदम पर आदमी बदलते जाते थे।

संध्या का अंधेरा हो गया था परन्तु चिता के समाप्त होने में अभी घण्टों की देर थी। भीड़ प्रायः छँट चुकी थी। डा० भार्गव आंसू बहाते बोले कि वे चिता को अकेला नहीं छोड़ना चाहते। उन्हें आशंका थी कि

कोई चिता का अपमान न कर जाय। उन्हें सान्त्वना दी कि मैं रात यहीं रह जाऊँगा।

भगवती भाई ने मुझसे पूछा, यहाँ सख्त सर्दी में गीली रेत पर कैसे रह जाओगे ? यह भी वे देख रहे थे कि मैं कितना थका हुआ था।

"अब तो कह चुका हूँ"— लाचारी दिखाई।

"अच्छा"—कह कर वे भी चले गये। मैं अकेला ही चिता से कुछ दूर रह गया। हल्की हल्की चाँदनी फैल रही थी। रावी की तीखी ठंडी हवा चलने लगी थी। चिता से हल्का सेंक भी आ रहा था। आँखों में नींद भर रही थी।

प्रायः एक घण्टे बाद अचानक अपने नाम की पुकार सुनी। आवाज पहिचानी, भगवती भाई थे। वे दूर रेती के पार खड़े पुकार रहे थे। जाकर देखा कि वे टाँगे पर एक खाट और बिस्तर ले आये हैं, एक कटोरदान में कुछ खाने के लिये भी।

हम लोगों ने चिता से कुछ दूर खाट पर बिस्तरा लगाया और दोनों एक साथ सो गये। सुबह सूर्य की किरणों से नींद खुली। नींद ऐसी आई थी कि करवट भी नहीं बदली। भगवती भाई के साथ खाट पर सोने से करवट लेने की गुन्जाइश भी नहीं थी। फरारी के दिनों में हम लोगों को हफ्तों जाड़ों में एक कम्बल लेकर इसी प्रकार सोना पड़ा परन्तु तब खाट भी नहीं थी।

राजनैतिक हिन्दू संगठन की सेवासमिति और डाक्टर गोपीचन्द भार्गव के काम की देखभाल के साथ-साथ ही क्रान्तिकारी दल में पिछ-वाड़े के मोर्चे का काम मैं मजे में निभाता चला जा रहा था। अब पंजाब में क्रान्तिकारी काम का नेता सुखदेव नियुक्त हो गया था। जयचन्द्र जी से हम लोगों का कोई सम्पर्क नहीं रहा। भगवती भाई के प्रति सन्देह दूर हो चुका था। नौजवान भारतसभा का काम मुख्यतः उनके और साथी धन्वन्तरि के ही कन्धों पर था। इसी समय 'मेरठ षडयंत्र' की गिरफ्ता-रियाँ शुरू हो गईं। कम्युनिस्टों से भगवती भाई के पुराने सम्बन्धों के कारण उनके यहाँ एक तलाशी भी हो गई थी। उनके गिरफ्तार हो जाने की आशंका थी इसलिये वे प्रायः घर से बाहर ही रहते थे।

पंजाब, युक्तप्रान्त, राजपूताना और बिहार का सम्बन्ध कायम हो

जाने से काम तेजी से बढ़ रहा था। जब-तब नये-नये लोग दिखाई देते। ये पंजाबी पोशाक पहने रहते थे परन्तु इनके व्यवहार और उच्चारण से मालूम हो जाता कि वे लोग पंजाबी नहीं हैं। इनमें से कुछ लोग मेरे ही अतिथि होते थे। सबसे पहले आने वालों में से कैलाशपति और साथी महावीरसिंह थे। महावीरसिंह का तो अण्डमान द्वीप के कारावास में देहान्त हो गया, कैलाशपति देहली षड्यन्त्र के मामले में गिरफ्तार होकर सरकारी गवाह बन गया। कैलाशपति परिस्थितियों के प्रभाव का बहुत ही स्पष्ट उदाहरण है। मैंने उसे भिन्न-भिन्न मानसिक अवस्थाओं में बहुत निकट से देखा है। अपने यहाँ आने वाले इन अतिथियों के उद्देश्य मैं खूब समझता था। वे भी यह जानते थे कि मैं उनकी वास्तविकता जानता हूँ परन्तु दल के कार्यक्रम के सम्बन्ध में उनसे कभी कोई बात नहीं हुई। गुप्त आन्दोलन के अनुशासन की रक्षा के लिये यह एक आवश्यक नियम था।

युक्तप्रान्त से कई साथी आये हुये थे। उन्हें एक दूसरे से अलग-अलग और सुरक्षित स्थानों पर टिकाना आवश्यक था। एक बड़ा विचित्र काम सुखदेव ने सौंप दिया था जिसका मैं स्वयं कोई अर्थ उस समय समझ नहीं सका। उसने कहा कि मैं दो-चार ऐसी जगहों का पता लूं जहाँ से हजार-हजार रूपये के नोट आसानी से भुनाये जा सकें। समझा कि दल के पास कहीं से ऐसे नोट आ गये हैं और उन्हें भुनाना आवश्यक है। अपना असामर्थ्य प्रकट कर दिया कि बाजार और व्यापार में मेरा दखल कहाँ। हजार-हजार रूपये के नोटों के तुड़ाने की आवश्यकता से कुछ विस्मय भी हुआ। इन दिनों आर्थिक स्थिति बहुत खराब थी। सुखदेव दो-दो, तीन-तीन रुपये मुझ से नोचता रहता। सब से बड़ा सहारा था भगवती भाई का। वे स्वयम तो 'मेरठ केस' के कारण आधे फरार से थे परन्तु भाभी और भी कृपालु थीं। सुखदेव जो मांगता वे बिना तर्क के चुपके से दे देतीं। रहस्य मुझे कुछ दिन बाद पता लगा। आर्थिक संकट से परेशान होकर लाहौर के 'पंजाब नेशनल बैंक' में डकैती करने की आयोजना बनाई गई थी। बैंक में डकैती करने के बाद नोट तुड़ाने की समस्या भी सामने अवश्य आती। सुखदेव उसी उपाय की चिन्ता कर रहा था।

दिसम्बर के आरम्भ में एक दिन सुखदेव ने मुझे 'नेशनल बैंक' जाकर

निरीक्षण करने के लिये कहा। निरीक्षण इस बात का करना था कि बैंक में डकैती की जाय तो मेरी कल्पना के अनुसार उसकी क्या योजना होनी चाहिये और डकैती के समय किन-किन बातों से असफलता हो सकती है। मैं बैंक में दस रुपये का नोट तुड़ाने के लिये बैंक गया और आकर अपनी रिपोर्ट दी। मेरी रिपोर्ट थी कि बैंक में डकैती आसान नहीं क्योंकि खजाने और क्लर्कों के बैठने की जगह प्रायः मिली जुली है। ऐसी अवस्था में बहुत अधिक आदमियों को डकैती में ले जाना होगा। मेरे खयाल से कम से कम तीस सशस्त्र आदमी चाहिए थे और सभी के बैंक से लौटने का प्रबन्ध मोटरों पर होना चाहिये था। इतनी मोटरें मिल कहाँ सकती थीं? सुखदेव ने तर्क किया कि लाहौर में टैक्सी मिल सकती है और ड्राइवर को टैक्सी से अलग किया जा सकता है। मैंने आपत्ति की कि टैक्सी का ठीक समय पर मिलना न मिलना मौके की बात है। यदि न मिली? सुखदेव ने कोई उत्तर नहीं दिया।

बाद में मुझे पता लगा कि सुखदेव ने बैंक में डकैती की योजना के सम्बन्ध में भगवती भाई से भी राय ली थी। हम दोनों को आपस में यह बात मालूम नहीं थी। सुखदेव का यह कायदा था कि भिन्न-भिन्न आदमियों की कल्पना और सूझ से फायदा भी उठा लेना और रहस्य भी प्रकट न करना। भगवती भाई ने तो इस योजना का विरोध नीति की दृष्टि से किया था। "पंजाब नेशनल बैंक" को लाहौर के लोग, खास कर आर्यसमाजी जगत राष्ट्रीय संस्था माने बैठे थे; उनका कहना था कि डकैती करनी है तो किसी दूसरे बैंक में की जानी चाहिये।

इस डकैती के लिये आजाद, कैलाशपति, भगतसिंह, महाबीरसिंह, कुन्दनलाल और राजगुरू लाहौर आये हुये थे। भगतसिंह ने इस समय केशों से छुट्टी लेकर टोप-टोपी पहनना शुरू कर दिया था। भगतसिंह और महाबीरसिंह दोनों भले आदमियों के से कपड़े पहन टैक्सी किराये पर लेने स्टेशन गये। योजना थी कि सुखदेव फाटक पर खड़े सन्तरी को रिवालवर से धमका कर उसकी बन्दूक छीन लेगा। कैलाशपति टेली-फोन के तार काटने के लिये एक छुरा भी लिये था भगतसिंह और महा-बीर बैंक के दूसरे आदमियों को दूर रोके रहने पर तैनात थे। हंसराज और कैलाशपति खजांचियों को काबू करने पर तैनात थे, जयगोपाल और किशोरीलाल को नोट थैलों में भर लेने का काम सौंपा गया था। खयाल

था कि सिक्का न बटोरा जाय। आज़ाद इस पूरी योजना का निरीक्षण करने वाले थे और माल लेकर लौटते समय ड्राइवर को गाड़ी के भीतर ही एक ओर धकेल मोटर चला कर लौटने का काम भी आज़ाद के ही ज़िम्मे था। आज़ाद, सन २६ में फरार होने के बाद झांसी और बंबई में मोटरमशीनरी और ड्राइवरी सीख चुके थे।

बैंक में पहुँचे हुये लोग पसीना-पसीना हो रहे थे परन्तु भगतसिंह और महाबीरसिंह टैक्सी लेकर न पहुँच सके। बैंक का खजाना बन्द होने का समय निकट आ रहा था। आखिर महाबीरसिंह एक तांगे पर बैंक पहुंचा और आज़ाद को सूचना दी कि टैक्सी नहीं मिल सकी। आज़ाद के इशारे पर सब लोग बैंक से बाहर निकल आये। यह असफलता कोई बड़ी बात नहीं थी। साधनों के अभाव में ऐसी असफलतायें तो बार-बार हुआ करती थीं।

सुखदेव से बात करते समय जिस आपत्ति की कल्पना मैंने की थी, अवसरवश वही हुई। भगतसिंह और महाबीर को स्टेशन पर कोई टैक्सी ही नहीं मिली। उन दिनों लाहौर में गिनी चुनी टैक्सियाँ ही थीं। ख़ास तौर पर जिस समय ये लोग टैक्सी लेने गये, स्टेशन में किसी गाड़ी के आने का समय नहीं था। डकैती का समय तीन बजे निश्चित किया गया था। जैसे आजकल बैंक डेढ़ दो बजे लेन देन बन्द करते हैं, उन दिनों तीन-साढ़ेतीन बजे बन्द करते थे। बैंक में अधिक से अधिक रुपया इसी समय होता था।

टैक्सी उस दिन नहीं मिली तो बाद में मिल सकती थी। एतियातन टैक्सी दो-तीन घण्टे पहले से ही भाड़े पर रखी जा सकती थी। कोई आदमी सैलानी यात्री बन कर टैक्सी पर 'शालीमार' और 'जहाँगीर का मकबरा' आदि देखने के बहाने टैक्सी सँभाले रहता। परन्तु बैंक के भीतर की स्थिति स्वयं देख लेने के बाद आज़ाद ने इस प्रयत्न को बुद्धिमानी नहीं समझा। आज़ाद दुस्साहसी सैनिक के तौर पर बहुत प्रसिद्ध हैं। व्यक्तिगत रूप से वे दुस्साहसी थे भी परन्तु जब किसी योजना का नेतृत्व करते तो उनका व्यवहार बहुत ही सतर्क हो जाता था और वे बहुत अधिक फूंक-फूंक कर कदम रखते थे। वे नाप-तोल कर यह निश्चय कर लेते थे कि मरने-मारने की परवाह न करने पर भी सफलता के लिये कितना अवसर है? उस समय उनका आवेश दब कर

सतर्कता उभर आती थी। इस बारे में साथियों को मुझ पर भी बहुत भरोसा था लेकिन आजाद के बराबर नहीं। जिस दिन हम लोग बोर्स्टल जेल के फाटक से भगतसिंह को छीनने के लिये हमला करने के लिये गये थे मैं आवेश में बावला सा हो गया और कूद पड़ने के लिये बार-बार आग्रह कर रहा था। परन्तु आजाद ने दाँत दबा कर डपट दिया—"स्टौप!" दस ही मिनट बाद दिमाग ठंडा होने पर मैंने भूल समझ ली। मेरे आवेश के परिणाम में भगतसिंह और दत्त समेत हम पांच-सात आदमियों की मृत्यु तो वहाँ जरूर हो जाती परन्तु भगतसिंह को पा लेना सम्भव न था। आजाद का यही गुण था जिसके कारण उनके "अंग्रेजी न बोल लेने पर भी" उन्हें हिसप्रस का कमांडर-इन-चीफ बनाया गया था।

साण्डर्स वध

आजाद का एक यह विचार था कि जब लाहौर में इतना प्रबन्ध किया गया है तो कुछ न कुछ करके ही टलें। लाला लाजपतराय का देहान्त हुये महीना भी नहीं बीता था। भगतसिंह ने सुझाया कि लाला जी पर आघात किया जाने के राष्ट्रीय अपमान का बदला लिया जाय। दिसम्बर के पहले सप्ताह में लाहौर के 'मजंग' मोहल्ले के मकान में इस बात का फैसला केन्द्रीय-समिति ने कर लिया। केन्द्रीय समिति के अधिकांश लोग लाहौर में मौजूद थे। शिववर्मा और फणीन्द्र बहुत दूर थे, उन्हें बुलाने में समय बहुत लग जाता।

पहले लाहौर-षड़यंत्र केस के मुखबिर जयगोपाल के बयान से यह भ्रम फैला हुआ है कि हिसप्रस ने स्काट को गोली मारने का फैसला किया था परन्तु भूल से गोली सांडर्स को मार दी गयी। बात यह नहीं है। मैं साइमन कमीशन विरोधी प्रदर्शन के प्रसंग में कह ही चुका हूं कि हुक्म स्काट का था, लाठी सांडर्स ने मारी थी। हिसप्रस को इनमें से किसी के प्रति व्यक्तिगत पक्षपात नहीं था। गोली मारने का प्रयोजन एक ही था और दोनों ही इसके अधिकारी थे। दोनों में भ्रम होने का कोई अवसर नहीं था। स्काट अपनी छोटी सी नीली मोटर में आता जाता था और सांडर्स अपनी लाल मोटर-साइकल से। स्काट का दफ्तर आना बहुत नियमित नहीं था इसलिये उसे गोली मारने की तजवीज उसके बंगले पर ही थी और सांडर्स को डी० ए० वी० कालिज के सामने पुलिस दफ्तर में गोली मारने का निश्चय था।

कई दिन तक सांडर्स और स्काट के आने-जाने के रास्ते की देख-भाल की गयी। सांडर्स कभी तो गोलबाग के बीचों-बीच गुजरता था और कभी टाउन हाल के सामने से होकर गोलबाग की बगल से आता जाता था दफ्तर के सामने मोटरसाइकिल खड़े करने की जगह उसकी निश्चित थी। खास तौर पर उस समय स्काट दो-तीन दिन से लाहौर में था ही नहीं। भूल की कोई गुंजाइश नहीं थी।

१७ दिसम्बर दोपहर बाद पहले 'मजंग' से जयगोपाल को पुलिस के दफ्तर के सामने यह देखने के लिये भेज दिया गया कि सांडर्स दफ्तर में है या नहीं। जयगोपाल कई दिन से सांडर्स के आने जाने पर नजर रख रहा था। वह सांडर्स को स्काट समझे हुये था। उसने शायद स्काट को देखा ही नहीं था। राजगुरु भी जगह देख चुका था। साइकिल का उसे अभ्यास नहीं था इसलिये वह एक रिवालवर लेकर बहुत शान्ति से मजे मजे पुलिस दफ्तर की ओर चला कि ठीक समय जगह पर पहुँच जाय। इसके बाद आजाद और भगतसिंह साइकिलों पर आये। दो दिन पहले ही जगह का निरीक्षण कर लिया गया था कि कौन कहाँ खड़ा होगा, मुकाबला पड़ने पर क्या किया जायगा और पीछा करने वालों से बच कर किस रास्ते भागा जायगा।

यह निश्चित था कि भगतसिंह और राजगुरु सांडर्स पर ठीक उस समय गोली चलायेंगे जब वह मोटर साइकिल पर पुलिस दफ्तर के हाते की सड़क के फाटक से बाहर निकलेगा। वहां समीप ही जयगोपाल एक साइकिल लिये ऐसे खड़ा था मानो किसी कारण बिगड़ गयी साइकिल को देख रहा हो। यहाँ साइकिल रखने का प्रयोजन यह था कि यदि राजगुरु और भगतसिंह की गोली चूक जाय तो भगतसिंह तुरन्त यह साइकिल ले सांडर्स का पीछा कर उसे गोलीमार सके।

आजाद स्वयं दफ्तर के सामने कालिज के जंगले के भीतर उस ओर खड़े थे जहां से गोली चलाने के बाद भगतसिंह और राजगुरु के डी० ए० वी० कालिज का हाता पार कर बोर्डिंग के भीतर चले जाने का निश्चय था। मतलब था कि यदि पुलिस के दूसरे आदमी इनका पीछा करें तो आजाद पीछा करने वालों का रास्ता रोक कर भगतसिंह और राजगुरु को भागने का अवसर देंगे। आजाद के हाथ में मौजर पिस्तौल थी जिसके पीछे इस पिस्तौल के रखने का खाना राइफल के

कुन्दे की तरह जुड़ जाता है और मौजर को राइफल की तरह कन्धे से टिका कर निशाना लिया जा सकता है। मौज़र पिस्तौल साधारण बन्दूक से अधिक दूर तक मार कर लेता है। मौजर में दस गोलियाँ एक साथ मैगजीन में भरी जाती हैं। आजाद दो भरी हुई मैगजीनें जेब में और भी रखे हुये थे।

घटना से पहले सन्देह न होने देने के लिये भगतसिंह और राजगुरु पुलिस-दफ्तर की सड़क पर खुलने वाले फाटक से जरा हट कर खड़े थे। उन्हें जयगोपाल के इशारे पर आगे बढ़ना था। सांडर्स के मोटर साइ-किल चालू कर आहिस्ता-आहिस्ता फाटक की ओर बढ़ते ही जयगोपाल ने आड़ में खड़े हुये भगतसिंह और राजगुरु को संकेत किया। सांडर्स धीमी चाल से फाटक तक पहुँचा ही था कि राजगुरु ने लपक कर एक गोली उसकी गरदन के ऊपर सिर में दाग दी। सांडर्स उसी गोली से मोटर साइकिल समेत गिर पड़ा। उसके मुँह से मामूली सी ही पुकार निकल पाई। भगतसिंह ने शंका का कोई अवसर न रहने देने के लिये सांडर्स के सिर और कन्धों पर चार-पांच गोलियां और दाग दीं। यह लोग कालिज के हाते की ओर बढ़े।

सांडर्स के गिरते ही दफ्तर के बरामदे में खड़ा एक सिपाही चिल्ला उठा था। ट्रैफिक इन्सपेक्टर फ़र्न और दो दूसरे सिपाही भगतसिंह और राजगुरु के पीछे दौड़ पड़े। भगतसिंह ने घूम कर फ़र्न पर गोली चलाने के लिये पिस्तौल उठाई। झुक कर बचने के प्रयत्न में फ़र्न गिर पड़ा। गोली उसे न लगी। दूसरे सिपाही झिझक गये।

आजाद ने अपने स्थान से चेतावनी दी—"चलो!"

भगतसिंह और राजगुरु आगे निकल गये। आजाद उनके पीछे रास्ता रोक कर खड़े हो गये। इतने में हेड कानस्टेबल चन्दनसिंह गाली देता हुआ उनके पीछे भागा।

आजाद ने अपना मौजर राइफल की तरह उठा कर धमकाया—"खबरदार! पीछे हटो।"

दो सिपाही तो रुक गये परन्तु चन्दनसिंह नहीं रुका। आजाद ने गोली चला दी। चन्दनसिंह एक ही गोली में बाहें फैलाये मुंह के बल गिर पड़ा। और किसी ने पीछा नहीं किया। आजाद भी भगतसिंह

और राजगुरु के पीछे-पीछे कालिज का हाता पार कर बोर्डिंग में चले गये। यहाँ आ कर आज़ाद ने राजगुरु को अपनी साइकिल पर बैठा लिया और बोर्डिंग से निकल गोलबाग से होते हुये 'मज़ंग' की ओर चले गये। उनके कुछ पीछे-पीछे भगतसिंह भी चला गया।

अंग्रेज डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस के मार दिये जाने से लाहौर में सनसनी तो फैल गई परन्तु घटना का रहस्य लोग समझ नहीं पा रहे थे। अनेक प्रकार के अनुमान लगाये जा रहे थे। दूसरे दिन कुछ लाल पर्चे अंग्रेज़ी में बांटे गये। वह पर्चे इस प्रकार थे:—

"हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र सेना

नोटिस

नौकरशाही सावधान !

जे० पी० साण्डर्स की मृत्यु से लाला लाजपतराय जी की हत्या का बदला ले लिया गया

यह सोच कर कितना दुख होता है कि जे० पी० सांडर्स जैसे एक मामूली पुलिस अफसर के कमीने हाथों देश की तीस करोड़ जनता द्वारा सम्मानित एक नेता पर हमला करके उनके प्राण ले लिये गये। राष्ट्र का यह अपमान हिन्दुस्तानी नवयुवकों और मर्दों को चुनौती थी।

आज संसार ने देख लिया है कि हिन्दुस्तान की जनता निष्प्राण नहीं हो गयी है, उनका खून जम नहीं गया; वे अपने राष्ट्र के सम्मान के लिये प्राणों की बाजी लगा सकते हैं और यह प्रमाण देश के उन युवकों ने दिया है जिनकी स्वयं इस देश के नेता निन्दा और अपमान करते हैं।

अत्याचारी सरकार सावधान !

इस देश की दलित और पीड़ित जनता की भावनाओं को ठेस मत लगाओ! अपनी शैतानी हरकतें बन्द करो! हमें हथियार न रखने देने के लिये बनाये तुम्हारे सब कानूनों और चौकसी के बावजूद पिस्तौल और रिवाल्वर इस देश की जनता के हाथ में आते ही रहेंगे। यदि यह हथियार सशस्त्र क्रान्ति के लिये पर्याप्त न भी हुए तो भी राष्ट्रीय अपमान

का बदला लेते रहने के लिये तो काफी रहेंगे ही। हमारे अपने लोग हमारी निन्दा और अपमान करें। विदेशी सरकार चाहे हमारा कितना भी दमन कर ले परन्तु हम राष्ट्रीय सम्मान की रक्षा करने और विदेशी अत्याचारियों को सबक सिखाने के लिये सदा तत्पर रहेंगे। हम सब विरोध और दमन के बावजूद क्रान्ति की पुकार को बुलन्द रखेंगे और फांसी के तख्तों से भी पुकारते रहेंगे :—

इन्कलाब जिन्दाबाद !

हमें एक आदमी की हत्या करने का खेद है परन्तु यह आदमी उस निर्दयी, नीच और अन्यायपूर्ण व्यवस्था का अंग था जिसे समाप्त कर देना आवश्यक है। इस आदमी की हत्या हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन के कारिन्दे के रूप में की गई है। यह सरकार संसार की सबसे अत्याचारी सरकार है।

मनुष्य का रक्त बहाने के लिये हमें खेद है परन्तु क्रान्ति के स्थण्डिल पर रक्त बहाना अनिवार्य हो जाता है। हमारा उद्देश्य ऐसी क्रान्ति से है जो मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का अंत कर देगी।

इन्कलाब जिन्दाबाद"

ह० बलराज

१८ दिसम्बर १६२८ सेनापति, पंजाब —हिसप्रस" *

'क्रान्ति' और 'आतंकवाद' के विषय में भी कुछ पहले कह आया हूँ। यहां यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि हिसप्रस की उपरोक्त घोषणा स्पष्ट कर देती है कि आतंकवाद और क्रान्ति के प्रति हम लोगों का दृष्टिकोण क्या था। इक्के दुक्के सरकारी अफसर पर हमला किया जाता था तो किस अभिप्राय से ? लक्ष हमारा सामूहिक सशस्त्र क्रान्ति ही था और उद्देश्य था, मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का अन्त कर देना।

* यह नोटिस हिसप्रस के अंग्रेजी नोटिस का अनुवाद है। लाहौर षड्यंत्र के मुकद्दमे में अंग्रेजी नोटिस अदालत में पेश किया गया था और इसका अदालती नम्बर E X. P. A. X. था।

कुछ समय तक पुलिस भी चक्कर में रही कि यह हत्या किन लोगों ने की है और साण्डर्स से इन लोगों को क्या शिकायत थी। परन्तु ऊपर उद्धृत इश्तहारों से सांडर्स की हत्या का राजनैतिक अथवा क्रान्तिकारी रूप प्रकट हो गया। लोगों के चेहरों पर एक गर्व भरी मुस्कराहट दिखाई देने लगी। पुलिस बौखला कर इधर-उधर हाथ मार रही थी। नौजवान भारतसभा और विद्यार्थी-संघ के बहुत से कार्यकर्ताओं को एकदम गिरफ्तार कर लिया गया। इनमें प्रायः वे ही कार्यकर्त्ता थे जो प्रकट राजनैतिक आन्दोलन में भाग ले रहे थे। इनमें से कोई भी इस रहस्य के विषय में कुछ जानता नहीं था। उन सब के मकानों की भी तलाशियाँ ली गई। वहाँ भी पुलिस को कोई सूराग़ न मिल सका। इस प्रकार पकड़े जाने वालों में केवल हंसराज वोहरा ही ऐसा व्यक्ति था जो 'सांडर्सकांड' के रहस्य से परिचित था।

हंसराज वोहरा इस से पहले से हिसप्रस में था और विद्यार्थीसंघ में भी काम कर रहा था। वह भी गिरफ्तार कर लिया गया। उसे सात दिन हवालात में रख कर, उसके विरुद्ध कोई प्रमाण न मिल सकने के कारण छोड़ दिया गया। उस समय उसने कोई कायरता न दिखायी। दूसरी बार गिरफ्तार होने पर वह मुखबिर बन गया। इस बार सुखदेव के बयान दे देने का उदाहरण उसके सामने था। हंसराज वोहरा सम्बंध में सुखदेव का शायद भांजा लगता था। उसके पिता लाहौर के 'माडल स्कूल' के हैडमास्टर थे। सुखदेव और भगतसिंह का भी वह विशेष विश्वासपात्र था। उसे भी सुखदेव पर बहुत श्रद्धा थी। इस लिये सुखदेव के आचरण का प्रभाव उसके मस्तिष्क पर पड़ना अनिवार्य था। दूसरी बार गिरफ्तारी पर हंसराज का व्यवहार बदल जाने का कारण स्वयं दूसरों की मुखबरी ही थी। सुखदेव सुबह ही आकर मुझसे मिला। एक दूसरे की आँखों में देख हम लोग समझ गये।

"अब रुपया चाहिये"—सुखदेव ने कहा—और खुद ही सुझाया—"अब तो डा० गोपीचन्द सन्तुष्ट हो गये होंगे! उनके गुरु के अपमान का बदला ले लिया गया है।.......उनसे बात क्यों नहीं करते ?"

रुपये की एकदम जरूरत थी। उस समय 'मजंग' के मकान में कितनी आर्थिक कठिनाई थी यह अनुमान मुखबिर जयगोपाल के बयान से भी हो सकता है। उसने अदालत में कहा था कि सांडर्स को गोली मार

देने के बाद जब सब लोग सन्ध्या समय मकान पर लौटे तो आज़ाद (पंडित जी) के कहने से वह अपने मित्र बन्सीलाल के यहाँ गया और सब लोगों का खाना-पीना निभाने के लिये दस रुपये माँग कर लाया।

मैं सीधा डा० गोपीचन्द के पास पहुँचा और एकान्त में उनसे बात की। परम गांधीवादी होने के बावजूद लाला जी के अपमान का बदला ले लिये जाने की खबर से डा० साहब के चेहरे पर सन्तोष झलक रहा था।

डाक्टर साहब ने आग्रह से पूछा—"यह काम किसने किया है ?"

मैंने निधड़क उत्तर दिया—"नाम नहीं बता सकता। काम क्रान्तिकारी लोगों ने किया है जो देश के सम्मान और स्वतंत्रता के लिये जान दे देने के लिये तैयार हैं।"

डा० साहब ने दो-तीन घण्टे बाद मिलने के लिये कहा। एकान्त में मिलने पर उन्होंने मुझे दो सौ रुपये थमा दिये। उस समय तो डाक्टर साहब ने सहायता दे दी परन्तु ऐसे कामों से मेरा सम्बन्ध मालूम हो जाने पर वे मुझसे बहुत कतराने लगे। यह कतराना यहाँ तक बढ़ा कि अन्त में मुझे उनका सहयोग छोड़ कर 'लक्ष्मी इंश्योरन्स कम्पनी' में नौकरी करनी पड़ गयी।

दो सौ रुपये से क्या होता ? अब आया दुर्गा भाभी की परीक्षा का समय। कह ही चुका हूँ, भगवती भाई घर पर नहीं थे। कुछ दिन पहले आ कर भाभी को आदेश दे गये थे,—"बैंक से पांचसौ रुपये निकलवा कर रख लो। किसी भी समय जरूरत हो सकती है।

भाभी ने घर की मालकिन के अधिकार से पूछा—"क्या होगा इतने रुपये का ?"

भगवती भाई तो भाभी को देहातिन बहू ही समझते थे, उत्तर दिया —"जो कहा है, करो !"

सुखदेव ने आकर पूछा—"घर में रुपया है ?"

"क्यों ?""हो जायगा""कितना ?"—भाभी ने संकोच से पूछा।

"इस समय कितना है ?"

"क्या करोगे ? कितना चाहिये ?"

"पांच सौ !"



भाई भगवतीचरण, दुर्गा भाभी और उनका पुत्र शचीन्द्रकुमार
सुख से बसे इस परिवार ने अपने आपको हि० स० प्र० स०
के क्रान्ति के प्रयत्नों के लिये निछावर कर दिया।

भाभी ने रुपया निकाल कर दे दिया।

लाहौर में इकट्ठे हुये दल के लोग एक-एक करके दो दिन में फिरोजपुर, अमृतसर आदि चले गये थे। सबसे कठिन समस्या थी भगतसिंह को लाहौर से बाहर निकालने की। यह कल्पना कर लेना कठिन नहीं था कि जिस भगतसिंह के विषय में पुलिस को यों ही सदा सन्देह बना रहता था, उसकी लम्बी फरारी के बाद पुलिस उसकी खोज में कितनी परेशान होगी। भगतसिंह केश कटा कर वेश तो बदल चुका था लेकिन इससे चेहरे में कितना परिवर्तन आ सकता था? फर्न पर गोली चलाते समय उसे तीन-चार सिपाहियों ने अच्छी तरह देखा भी था। भगतसिंह के पुराने रूप से तो लाहौर की खुफिया पुलिस खूब परिचित थी ही। दाढ़ी उसने साफ करा दी थी जरूर परन्तु उसकी दाढ़ी बहुत तो घनी कभी थी भी नहीं।

भगवती भाई 'मेरठ केस' में वारण्ट होने की आशंका के कारण फरार थे ही। उस वर्ष कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ते में हो रहा था। भगवती भाई कांग्रेस में जाना चाहते थे। एक दिन अवसर से आकर भाभी से पूछ गये थे—"कांग्रेस पर कलकत्ते चलोगी?"

"क्या करूँगी?"—भाभी ने कुछ उत्साह नहीं दिखाया।

"मैं जाऊँगा"—भगवती भाई कह गये थे।

सुखदेव लगभग रात के आठ बजे आया। उन दिनों भाभी संस्कृत पढ़ा करती थीं। पड़ोस की एक और महिला के साथ मिलकर दोनों ने एक अध्यापक नियुक्त कर लिया था। भाभी को एक ओर बुला सुखदेव ने प्रश्न किया—"कहीं बाहर जा सकती हो?"

"कहाँ?......क्या काम है?"

"इस घटना के एक आदमी को बचा कर लाहौर से निकालना है। उसकी मेम साहब बन कर साथ जाना होगा,...खतरा है! सोच लो! गोली चल सकती है।"—सुखदेव भाभी की ओर घूरता रहा।

"कौन आदमी है?"—भाभी ने जानना चाहा।

"कोई भी हो!"—जैसी कि सुखदेव की आदत थी।

"चली जाऊँगी"।

"वह रात यहां ही रहेगा।''''इस पढ़ाई को समाप्त कर दो।"

"अच्छा"

कुछ देर बाद सुखदेव के साथ एक लम्बा सा जवान ओवरकोट, हैट पहने एक नौकर के साथ आ गया। भाबी ने उन्हें कमरे में बैठा दिया, स्वयं भी बैठी और सुखदेव की ओर देखती रहीं। अपरिचित आदमी की ओर क्या देखतीं?

सुखदेव ने उस आदमी की ओर संकेत कर भाबी से पूछा—"इसे पहचानती हो?"

भाबी ने देखा; जरा ध्यान से देखा—"भगत"?

भगतसिंह और सुखदेव हँस पड़े।

सुबह तड़के पांच-छः बजे कलकत्ता मेल से चलने की बात थी। भगतसिंह ओवरकोट का कालर उठाये, हैट माथे पर खींचे और अपना चेहरा 'शची' के सिर की आड़ में किये रेलवे प्लेटफार्म पर पहुँचा। भगवती भाई का लड़का शचीन्द्र कुमार वोहरा, इंजीनियर उस समय तीन बरस का था। भाबी भी यथा शक्ति चेहरे पर पाउडर मले और अपने सब से ऊँचे एड़ी के जूते से खट-खट करती साथ थीं। भगतसिंह की जेब में भरा हुआ पिस्तौल था। राजगुरु नौकर के वेश में साथ था। उसकी कमर पर भी भरा हुआ पिस्तौल बँधा था। पुलिस को सन्देह हो जाता तो गोली जरूर चलती।''''''शची और भाबी दोनों का क्या होता?

लखनऊ स्टेशन पर यह लोग कुछ घण्टे के लिये वेटिंगरूम में ठहर गये। राजगुरु यहां से खिसक गया।

भगवती भाई कलकत्ते में सुशीला 'दीदी' के यहां ठहरे हुये थे। उचित समझा कि उन्हें भाबी के पहुँचने की सूचना दे दी जाये। भगतसिंह ने भाबी के नाम से तार दे दिया—"भाई के साथ आ रही हूँ" नीचे नाम दुर्गादेवी न लिख भूल से दुर्गावती लिख दिया।

भगवती भाई और सुशीला 'दीदी' दोनों हैरान थे, कौन दुर्गावती और कैसा भाई? दुर्गा ने तो कांग्रेस पर आने से इनकार कर दिया था? फिर भी वे स्टेशन पर देखने गये।

स्टेशन पर बात समझी। भगवती भाई स्तब्ध से रह गये! वहीं

प्लेटफार्म पर ही भाबी के कन्धे पर हाथ रख कर कहे बिना न रह सके—"तुम्हें आज समझा !"

भगतसिंह कांग्रेस के अधिवेशन के समय ही कलकत्ता पहुंचा था। कलकत्ते में लाहौर की अपेक्षा आशंका कम थी परन्तु कांग्रेस के अधिवेशन के उपलक्ष में जहाँ सभी प्रांतों के राजनैतिक लोग कलकत्ते में इकट्ठे हुये थे वहां साथ ही सभी प्रान्तों की खुफिया-पुलिस का जमघट भी लग गया था। इसलिये भगतसिंह प्रायः दिन भर पड़ा-पड़ा सोया करता। इस समय कलकत्ते में इकट्ठे हुये क्रांतिकारियों से मिलने के लिये वह बंगाली ढंग की धोती पहन और शाल ओढ़ रात में निकलता।

तब सुशीला 'दीदी' 'कन्या महाविद्यालय, जालंधर' की नौकरी छोड़ कलकत्ते के एक करोड़पति सेठ छाजूराम की पुत्री को पढ़ाने की नौकरी कर रही थीं। इस लड़की की संरक्षिका के तौर पर सेठ के परिवार में ही, सेंट्रल ऐवेन्यू में रहती थीं। उनका अपना कमरा अलग था। दुर्गा भाबी और भगतसिंह यहीं आकर टिके थे।

भगतसिंह के दिन भर घर में बने रहने से सेठ के लम्बे चौड़े परिवार के लोगों को कुछ शंका न हो इसलिये सुशीला जी ने कह दिया था कि हमारा भान्जा रास्ते में बीमार हो गया है। दवाई का लेबिल लगी एक शीशी भी भगतसिंह की खाट के समीप पड़ी रहती; जिसमें से कुछ पानी समय समय पर बहा भी दिया जाता। भगतसिंह दिन में खूब खाता और खूब सोता। रात में निशाचरों की तरह घूमता फिरता। पाँच चार में दिन दूसरी जगह प्रबन्ध हो जाने पर उसने सेठ छाजूराम का मकान छोड़ दिया।

कलकत्ते में पहले या दूसरे दिन ही रात में लोगों से मिलने के लिये निकलने पर भगतसिंह की मुलाकात हो गई जयचन्द्र जी से। वे भी कांग्रेस पर पहुँचे हुये थे और अब भी क्रान्तिकारी संगठन में अपनी जगह बनाने की कोशिश कर ही रहे थे। भगतसिंह को पहचान उन्होंने उसे शाबाश और बधाई तो दी परन्तु सतर्कता का उपदेश देते हुये उसे भयंकर संकट से सावधान भी कर दिया—"सुनो, भगवतीचरण भी यहाँ आया हुआ है! उससे बच कर रहना!"

भगतसिंह का कहना था कि सावधानी के इस परामर्श से वह सन्

ही मन जल गया। मन में तो आया कि जबाब में एक चाँटा दे दे परन्तु जयचन्द्र जी एक तो आयु में बड़े थे, तिस पर एक समय के गुरु। भगतसिंह मन मार कर रह गया। जो आदमी स्वयं एक राजनैतिक षड्-यंत्र के मामले में फ़रार हो और जिसकी पत्नी अपने सिर जोखिम लेकर संकट में फँसे, क्रान्तिकारी को बचाने की चेष्टा करे, उस आदमी को भी खुफ़िया बताया जाय और फिर उसी आदमी से जो कि अपनी जान बचाने के लिये उनके प्रति कृतज्ञ हो! तो उसे गुस्सा नहीं आयगा तो और क्या?

× × ×

लाला लाजपतराय की हत्या का बदला सफलतापूर्वक लेकर भी पुलिस के हाथ न पड़ने से क्रान्तिकारियों के क्षेत्र में हिसप्रस की प्रतिष्ठा बढ़ गई थी। इसके अतिरिक्त बंगाल के नवयुवक क्रान्तिकारियों का एक दल उसी दिसम्बर में जेलों से छूट कर आया था। यह दल अपने 'दादा' नेताओं से उसी प्रकार परेशान था जैसे कि हिसप्रस के नवयुवक जय-चन्द्र जी और जे० एन० सान्याल से ऊबे हुये थे। परस्पर सम्पर्क हो जाने पर यह लोग हिसप्रस के साथ काम करने के लिये तैयार हो गये। हिस-प्रस को इस समय बम बनाना सिखा सकने वाले एक आदमी की बहुत ज़रूरत थी। कलकत्ते में भगतसिंह का यतीन्द्रनाथ दास से परिचय हो जाने पर यह समस्या हल हो गयी।

केन्द्रीय-समिति की दिल्ली बैठक में हिसप्रस का केन्द्रीय स्थान आगरा में निश्चित किया गया था। बम बनाने की विद्या सिखाने वाला व्यक्ति मिल जाने पर भगतसिंह की इच्छा थी कि यह प्रयोग आगरे में ही किया जायें और सब प्रांतों का एक-एक प्रतिनिधि यह शिक्षा पा सके; भविष्य में बम बनाने वाले व्यक्ति दुर्लभ न रहें।

यतीन्द्रनाथ दास पूर्णतः सहयोग देने के लिये तैयार था। उसने सुझाया कि जाड़े के दिन हैं। आगरे में बरफ़ शायद पर्याप्त मात्रा में न मिल सके। हम लोग बम में पलीता 'गनकाटन' का लगाते थे। 'गनका-टन' बहुत ही जल्दी आग पकड़ लेती है। बुझी दियासलाई में यदि कुछ भी चमक शेष हो तो छुआते ही 'गनकाटन' फक से जल जायगी। अच्छी बनी 'गनकाटन' का फाया हथेली पर रख कर जलाइये तो इतनी जल्दी जल कर समाप्त हो जायगा कि हथेली पर निशान भी न बन

पायगा। 'गनकाटन' बनाने के लिये रासायनिक उपकरणों को बरफ के बीच में रख कर काम करना पड़ता था।

'गनकाटन' बनाने के लिये उपकरणों को बरफ में रखकर काम करने की बात पाठकों को कुछ जादूगरी का सा खेल मालूम होगा। सामरिक सामान (War material) तैयार करने वाले बड़े-बड़े कारखानों में क्या लाखों मन बरफ ढोयी जाती होगी? इसका उत्तर यह है कि जहाँ 'गनकाटन' बनाने का काम पूर्ण वैज्ञानिक साधनों और सुविधा से किया जायगा वहाँ यह रासायनिक क्रिया बड़े परिमाण में तैयार किये गये ईथर के आयतनों (चैंबर्स) में हो सकती है। दूसरे वैज्ञानिक साधनों द्वारा भी रासायनिक पदार्थों का मिश्रण करते समय उनका तापमान घटा दिया जा सकता है। उन कारखानों के बनाने में करोड़ों रुपये खर्च होते हैं। उन्हें छिप कर काम नहीं करना पड़ता था। परन्तु हिसप्रस के साथी अथवा दूसरे क्रांतिकारी चालीस-पचास रुपये की पूँजी लेकर बम बनाने का कारखाना आरम्भ करते थे। वे एक समय कई टन सामान नहीं बल्कि कुछ तोले मसाला बनाने की बात सोचते थे। उनके हाथ में एक ही उपाय था कि 'गनकाटन' बनाने के लिये पात्रों को बरफ में दबा कर उनमें रासायनिक पदार्थों का मेल करते समय उनमें थर्मामीटर डुबाये रखें और प्रतिक्षण तापमान पर दृष्टि गड़ाये रहें, वर्ना पदार्थ बनने से पूर्व वे स्वयं ही शव बन जाते।

यतीन्द्रनाथ दास के सुझाव पर यह तय हुआ कि कलकत्ते में बरफ सभी महीनों में यथेष्ट मिल सकती है इसलिये 'गनकाटन' कलकत्ते में ही बनायी जाये। 'पिक्रिक एसिड' बनाने का सामान कलकत्ते से खरीद कर आगरे पहुँचा दिया जाये ताकि वहां दूसरे लोग भी मसाला बनाना सीख सकें। कलकत्ते में 'गनकाटन' बनाने का आयोजन कार्नवालिस स्ट्रीट में आर्यसमाज मन्दिर की सबसे ऊपर की कोठड़ी में किया गया था। उस समय सीखने वालों में फणीन्द्र घोष, कमलनाथ तिवाड़ी, विजय और भगतसिंह मौजूद थे। गनकाटन कलकत्ते में बना ली गयी और शेष सामान लेकर यह लोग दो-दो की टोलियों में आगरा के लिये चल दिये।

आगरे में केन्द्रीय आयोजन कुछ बड़े परिमाण में हो रहा था। लाहौर में सांडर्सकांड सफलतापूर्वक कर लेने से बिना डकैती किये ही

रुपया मिलने लगा था। आगरे में प्रबन्ध दो मकानों में किया गया था। एक मकान था 'हींग की मण्डी' में और दूसरा 'नाई की मण्डी' में।

'नाई की मण्डी' में बम बनाने का तरीका सिखाने के लिये पंजाब से सुखदेव और राजपूताने से कुन्दनलाल को भी बुला लिया गया था। यहाँ रासायनिक पदार्थों से 'पिक्रिक ऐसिड' बना कर उसका 'क्लोरोपिक्रेट' बनाने की प्रक्रिया चल रही थी। पहली बार तो सब सामान टूटा और कुछ सफलता भी न मिली परन्तु दूसरे प्रयत्न में काफी सफलता मिल गयी। असेम्बली-बमकांड में जो बम इस्तेमाल किये गये थे, उनका मसाला इसी समय आगरे में, जनवरी १६२६ में तैयार किया गया था।

आगरा केन्द्र में अनेक प्रान्तों से आये हुए हिसप्रस के साथी बहुत दिन तक एक साथ रहे। इन लोगों ने जहां बम का मसाला बनाने के प्रयोग किये वहाँ आपस में विचार-विनियम का अवसर भी इन्हें मिला। प्रायः ही बात-बात में बात निकल आती है और दूसरों को समझाने के साथ-साथ हमारे अपने विचार भी निखर जाते हैं। यहां इकट्ठे हुए साथी किस प्रकार के तर्क वितर्क करते थे इसका कुछ अनुमान आगरा केन्द्र में जमा हो गयी पुस्तकों से किया जा सकता है। मुखबिर फणीन्द्रनाथ घोष ने भी अपने बयान में इन पुस्तकों के आगरा केन्द्र में रहने और पढ़े जाने की चर्चा की थी। इन पुस्तकों में से कुछ के नाम यह थे :— The History of the Revolutionery Struggle in British India. Open & Secret. The Ideal of Republic. 1914-15 Rising. Ideal of Equality, Liberty, Fraternity. Indian Princes and Revolutioneries (Sarkars pamphlet). Turkish messages to India's Muslim Rulers. Berlin committee and the German plot. Non-cooperation, Swaraj Without Clear Definition. Failure of Non-cooperation Movement and the Revolutionery parties. Communist Thought. Spiritualism. Advanced Socialist Thought. Communist School of Thought. Nehru Report. Terrorists and Mass Revolutioneries. Anarchism and Socialism, Communism. Syndicalism and Collectivism. The Revolution and the World

Rovolution. Modern Breech Loaders. Use of Explosives. Monopoly or How Labour is Robbed. भारतीय इतिहास का भौगोलिक आधार, मखजने-उल-अद्वियात, भारतीय सड़कों के नक्शे, विवाह और प्रेम, Eternal City. Studies in the Psychology of Sex. What Never Happened. Les Miserables आदि-आदि राजनैतिक पुस्तकों के साथ-साथ साथी उपन्यासों के भी कम शौकीन नहीं थे।

यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि आजाद को अच्छी अच्छी पुस्तकें ला कर साथियों को पढ़ाने का बहुत शौक था परन्तु उपन्यास या यौन विषय(Sex) सम्बन्धी पुस्तकें देख कर उन्हें बहुत चिढ़ उठती थी। ब्रह्मचर्य का एक बहुत ही रूढ़िवादी आदर्श उस समय तक आजाद के मस्तिष्क में था। उससे पहले दो-एक दफे दल में ऐसे कांड हो चुके थे कि साथियों ने नारी के आकर्षण के कारण अपने कर्तव्य में निबलता दिखाई थी। आजाद को नारी, प्रेम और सौन्दर्य की चर्चा से ही चिढ़ हो गई थी। कसरत स्वयं करने और दूसरों को कराने का भी बहुत शौक उन्हें था। यदि कोई और काम न हो तो आजाद का मन बहलता था लगातार बातचीत करने से या हवाई पिस्तौल ले कर किसी बारीक चीज पर निशाने का अभ्यास करते रहने से।

उस समय आजाद और दूसरे साथियों की ब्रह्मचर्य, नारी, प्रेम और सौन्दर्य के बारे में कैसी धारणायें थीं, यह दो-एक बहुत छोटे-छोटे उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा। प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप में स्त्री का प्रसंग चलते ही आजाद एतराज किये बिना न रह सकते—"फिर 'चुम्बक' की बात ! यह साला 'चुम्बक' जिसे लगा ले डूबा। सिपाही को औरत से क्या मतलब ?" यह थी केवल आजाद की धारणा। दूसरे साथियों को स्त्री और प्रेम की चर्चा से कोई परहेज नहीं था। हां सुखदेव भी इस प्रसंग में कम ही रस लेता था। उसका कहना था—"जब औरत है नहीं तो उसकी चर्चा से फायदा ?"

आजाद का सबसे प्रिय गाना था—"माँ हमें विदा दो, जाते हैं हम विजयकेतु फहराने आज।" वे प्रायः ही भगतसिंह या राजगुरु और बाद में बच्चन (वैशम्पायन) से यह गाना सुनाने के लिये अनुरोध करते। राजगुरु यों तो बहुत ही वीर स्वभाव था परन्तु चुटकियाँ लेने में उसे

बहुत मजा आता । जब आजाद उसे गाने के लिये कहें तो जरूर ही कोई इश्किया ग़जल गुनगुनाने की चेष्टा करने लगता । यह ग़जलें वह प्रायः भगतसिंह से सुन कर याद कर लेता था । भगतसिंह को शायरी में भी कुछ शौक था ही । शीरीं फरहाद के इश्क को लेकर उसने स्वयम भी एक ग़जल लिख डाली थी । महाराष्ट्र होने के कारण राजगुरु का उर्दू उच्चारण बहुत विचित्र था । ग़जल में वह 'आशिक' और 'माशूक' को प्रायः ही 'आशुक' और 'माशिक' कह जाता और खूब हंसता । यदि आजाद "विजयकेतु" वाला गाना सुनने पर जिद ही करें तो वह हँस कर उत्तर बता—"अभी पुलिस आता है विजयकेतु लेकर ।

एक रोज राजगुरु कहीं से बहुत सुन्दर स्त्री की तस्वीर का एक कैलेण्डर ले आया और ला कर 'नाई की मंडी' वाले मकान में लटका दिया । आजाद कहीं बाहर से लौटे । बच्चन (वैशम्पायन) ने उस कैलेण्डर की ओर संकेत किया—"भैया, देखो ! यह कौन ले आया ?"

आजाद ने कैलेण्डर की ओर देखा । माथे पर बल पड़ गये । कैलेण्डर को कील समेत दीवार से खींच लिया और फाड़ कर फैंक दिया ।

कुछ देर बाद राजगुरु लौटा । दीवार से अपना कैलेण्डर गायब देख ऊँचे स्वर में पुकार उठा—"अरे, हमारा कैलेन्डर क्या हुआ ?

बच्चन ने ओंठ दबाकर फ़र्श पर पड़े कैलेण्डर के टुकड़ों की ओर देखा । राजगुरु ने झुंझलाहट और क्रोध के स्वर में प्रश्न किया—"यह किसने किया ?"

"हमने किया"—आजाद भला किसी से डरते थे ?

आजाद के प्रति आदर से स्वर को कुछ धीमा कर राजगुरुने विरोध किया—"आपने क्यों फाड़ डाला ? हम इतने शौक से तस्वीर लाये थे ।"

"हमें-तुम्हें ऐसी तस्वीरों से क्या मतलब ?"—आजाद ने डपट दिया ।

"वाह, इतनी खूबसूरत थी !"

"हमें तुम्हें खूबसूरत से मतलब ?"—नाराजगी से ऊँचे स्वर में आजाद ने डांटा ।

"तो जो कुछ खूबसूरत होगा उसे फाड़ डालोगे, तोड़ डालोगे ?"—राजगुरु भी अड़ गया ।

"हाँ तोड़ डालेंगे"—आजाद ने सीना तान लिया।

"तो जाकर ताजमहल को भी तोड़ डालो"—राजगुरु ने चुनौती दी।

"हाँ तोड़ डालेंगे, जब हमारा बस चलेगा।"—आजाद की आँखों में सुर्ख डोरे उभर आये।

दूसरे साथियों को होंठ दबाये आँखें चुराते देख राजगुरु की झल्लाहट भी मुस्कराहट में बदल गई।

ब्रह्मचर्य्य के विषय में १९२९ के आरम्भ में आजाद की ऐसी ही धारणा थी परन्तु एक ही वर्ष में उनका दृष्टिकोण बहुत ही स्वाभाविक और यथार्थवादी हो गया। अनाचार और उच्छृंखलता से तो आजाद को सदा ही घृणा रही परन्तु १९३० के जाड़ों की बात मुझे याद है कि कानपुर के 'चुन्नीगंज' मुहल्ले में आजाद मुझसे बात किया करते थे कि क्रान्ति को जीवन भरका काम बना लेने वाले आदमी को क्रान्तिकारी स्त्री से विवाह कर लेना चाहिये। कभी मजे में आ कर अपनी सम्भावित पत्नी का जिक्र करते हुए कल्पना किया करते थे:—

"………पहाड़-पहाड़ घूम रहे हों, एक राइफल उसके कन्धे पर हो और एक हमारे। कारतूसों की बोरी साथ हो। दुश्मन से घिर जायँ। वह राइफलें भरती जाय और हम दनादन-दनादन गोली चलाते जायँ।'

आगरा में रहते समय साथियों को बन्दूक और पिस्तौल का निशाना सिखाने के लिये वे उन्हें आगरे से बुन्देलखण्ड के जंगलों में दो-दो तीन-तीन करके साथ ले जाते। इस काम में आजाद को जो सुख मिलता था उसे शब्दों से प्रकट नहीं किया जा सकता। दूर किसी महीन चीज पर सही निशाना मार लेने से उन्हें कम से कम उतना संतोष होता जितना कोई बहुत ऊँची उक्ति कह देने पर किसी कवि को हो सकता है या लाख-दो लाख का सट्टा जीत लेने पर किसी मारवाड़ी को। जिन दिनों मैं आजाद के साथ रहा, निशाना सिखाने के उनके शौक के कारण मुझे भी काफी जहमत झेलनी पड़ती। लक्ष्यवेध में अनुपम दक्षता प्राप्त करने के लिये मुझे कोई विशेष उत्साह कभी नहीं हुआ। मैं बस भरसक आजाद को भी इस शौक से निरुत्साहित करने की कोशिश करता रहता। आजाद धमकाते थे—"अबे बांगड़ूस पिद्दिडिया। कोट की जेब

में लिये फिरते रहोगे । प्रैक्टिस नहीं होगी तो वक्त पर दो हाथ दूर गोली जायगी और दाँत निपोरे रह जाओगे * ।"

मैं उत्तर देता—"पिस्तौल साथ रखता हूँ आत्मरक्षा के लिये; सरकस में निशाना मार कर मुझे इनाम नहीं लेना है । वक्त आने पर भी उड़ती चिड़िया का तो निशाना लेना नहीं होगा । न आँख की सीध में हथियार रखने और निशाना बाँधने की फुर्सत होगी । हमें जब गोली चलानी होगी, तो किसी आदमी पर ही, और सहसा ! उसमें दो-चार इंच-इधर-उधर कहीं भी गोली लग जाय, काफी है । औसान कायम रहने चाहिए !····इतनी कठिनाई से तो कारतूस मिलते हैं । इन्हें प्रैक्टिस में ही उड़ा देना कौन समझदारी है ।" परन्तु आज़ाद को मेरा यह तर्क जँचा नहीं । कारण यह है कि निशानाबाज़ी आज़ाद की दृष्टि में हमारी सैनिक-शिक्षा का आवश्यक अंग ही नहीं बल्कि उनका अपना चस्का भी तो था ।

जैसे बम का मसाला बनाना विकट समस्या थी वैसे ही बम के लिये उपयुक्त खोल बना लेना भी आसान नहीं था । इससे पूर्व बंगाली दादा लोग सिगरेट के टीनों और कीलों का ही व्यवहार इस काम के लिये करते आये थे । सिगरेट के टीन का बम बनाने में बम बनाने वाला तो अधिक खतरे में रहता है परन्तु बम की चोट बहुत कम होती है । सुखदेव ने बम के खोल ढलाने की जिम्मेवारी अपने सिर ली । अपनी बुद्धि से उसने इसका एक साँचा भी तैयार किया । इस खोल को ढलाने और खराद पर कटवाने की आवश्यकता पड़ती थी ।

सुखदेव की योजनायें बहुत फैली हुई हुआ करती थीं । वह बहुत दिन से बम के अच्छे खोल बनाने की चिन्ता में था । इसी योजना के अन्तरगत उसने जयगोपाल को लोहार का काम सीखने के लिये लाहौर के 'जुबली टकनीकल स्कूल' में भर्ती करवा दिया था । उसने ब्रांडरथ रोड पर ढलाई और खराद का काम करने वाले कारखानों को अपने नमूने के अनुसार चीज़ बना देने के लिये कहा । कारखाने वालों ने स्वाभाविक कौतुहल से पूछा कि यह क्या चीज है ? उन्हें समझाया गया कि हम

---

* आज़ाद मुझे कभी सोहनसिंह और कभी थांगड़ूस (अक्खड़) कह कर पुकारते थे । स्नेह से वे पिस्तौल को पिटपिटिया कहा करते थे ।

लोग गैस का नया इन्जन बनाने का यत्न कर रहे हैं, यह उसी का हिस्सा है।

बम की ढलाई सिराजदीन की भट्ठी पर कराई जाती थी और खराद का काम गुलामरसूल की खराद पर। गुलामरसूल के पिता के एक बूढ़े मित्र को इस विचित्र औजार पर कुछ सन्देह हुआ और उन्होंने यह भेद एक सिपाही को दे दिया।

आगरे में भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोगों को बम का मसाला बनाने की प्रक्रिया की शिक्षा दे दी जाने के बाद आगरे का केन्द्र समाप्त कर दिया गया। अब केन्द्र बना दिल्ली में। युक्त प्रान्त के लिये शिव वर्मा ने सहारनपुर में और पंजाब के लिये सुखदेव ने लाहौर में बम फैक्टरी कायम करने का काम आरंभ किया था। आगरा बम फैक्टरी में तैयार किये मसाले का परीक्षण लाहौर में सुखदेव द्वारा तैयार कराये खोल में भर कर झाँसी में किया गया था। इस परीक्षण को आजाद, शिव वर्मा और फणीन्द्र ने देखा था। इन लोगों ने रिपोर्ट दी थी कि यह बम काफी सन्तोषजनक है। आगरे के मसाले से आठ दस बम तैयार हो गये थे। इन बमों के प्रयोग के कार्य भी निश्चित कर लिये गये थे। एक बहुत दिनों से निश्चित काम तो था साइमन कमीशन के ऊपर आक्रमण करने का जो कि समय पर आवश्यक रुपया न मिलने के कारण हो ही न सका। साइमन कमीशन भी अपनी यात्रा कुछ जल्दी समाप्त कर लौट गया था। दूसरा प्रस्ताव था दिल्ली असेम्बली में बम फेंकने का।



४

असेम्ब्ली बम काण्ड

केन्द्रीय असेंबली में बम फेंकने का विचार किसी बहुत बड़ी झोंक या पिनक का परिणाम नहीं था। यह योजना हिसप्रस की नीति और कार्यक्रम का मुंह बोलता उदाहरण था। अंग्रेज सरकार केन्द्रीय असेम्बली में दो नये दमनकारी कानून बनाने की चेष्टा कर रही थी। इनमें से एक था 'सार्वजनिक सुरक्षा कानून' (Public Safty Bill) और दूसरा था मजदूरों की मांगों और उनको हड़तालों से संबंध रखने वाला 'औद्योगिक विवाद कानून' (Trades Disputes Bill)। हिसप्रस के साथी यह जानते थे कि असेम्बली में कांग्रेस और उदारदल के सदस्यों को मिला कर बहुमत इन कानूनों के विरुद्ध में होगा। सरकार साधारण तरीके या बहुमत से इन कानूनों को पास नहीं करा सकेगी। यह भी मालूम था कि असेम्बली द्वारा अस्वीकार कर दिये जाने पर भी सरकार इन कानूनों को वाइसराय की विशेष स्वीकृति से कानून बना देगी। ये दोनों कानून जनता में बढ़ते जाते असन्तोष और स्वतंत्रता की भावना को कुचलने के प्रयोजन से बनाये जा रहे थे।

केन्द्रीय समिति ने निश्चय किया था कि जिस समय इन कानूनों के बहुमत द्वारा अस्वीकार कर दिये जाने पर भी इन्हें वाइसराय की आज्ञा से कानून बना दिये जाने की घोषणा असेम्बली में की जाये, हिसप्रस की ओर से बम फेंक कर सरकार के दमनकारी व्यवहार के प्रति विरोध प्रकट किया जाये। बम फेंक कर विरोध प्रदर्शित करने के दो पहलू थे:—एक पहलू में विदेशी सरकार को यह चुनौती थी कि तुम प्रजा के प्रतिनिधियों के निर्णय के विरुद्ध शस्त्रशक्ति से शासन कर रहे हो तो उसका उत्तर हम भी शस्त्रशक्ति से देने के लिये तैयार हैं। दूसरे पहलू में वैधानिक



बटुकेश्वरदत्त जेल से मुक्ति के बाद १६४२ में



मौन सिपाही राजगुरु गिरफ्तारी से पहले

आन्दोलन द्वारा विदेशी सरकार का विरोध करने वाले राष्ट्रीय प्रतिनिधियों को चेतावनी थी कि आपका वैधानिक विरोध निष्फल है। आप के वैधानिक विरोध के बावजूद दमनकारी कानून बनाये जा सकते हैं। इस असेम्बली के पाखण्ड से क्या लाभ ? विदेशी सरकार के दमनकारी शासन पर से वैधानिकता का नकाब हटा देना आवश्यक है। विदेशी सरकार के विरोध का वास्तविक मार्ग उससे युद्ध करना है। हिसप्रस ने अपनी नीति का स्पष्टीकरण बम के साथ फेंके हुये घोषणा-पत्र में कर दिया था। इस घोषणा पत्र को भी आगे उद्धृत करूंगा।

इस काम की योजना को सफल बनाने के लिये हिसप्रस का केन्द्र भी अब दिल्ली में ही कायम किया गया और साथी जयदेव कपूर को असेम्बली की परिस्थितियों की जांच पड़ताल करने के लिये नियुक्त कर दिया गया। तब भी असेम्बली में प्रवेश पासों द्वारा ही होता था। ऐसा प्रबन्ध कर लेना आवश्यक था कि जब चाहें दो-तीन पास सुविधा से मिल सकें। जयदेव ने असेम्बली की चौकसी करने और पास देने वाले दफ्तर (Watch & Ward) में अपना परिचय दिल्ली 'हिन्दू-कालिज' में अर्थशास्त्र पढ़ने वाले विद्यार्थी के रूप में दिया था ताकि वह सुविधा से असेम्बली के पुस्तकालय में आ जा सके। दफ्तर के आदमियों पर विश्वास जमा लेने के बाद वह असेम्बली के अधिवेशन के समय दर्शकों की गैलरी में बैठ कर असेम्बली की कार्यवाही भी देखता रहता। चौकसी दफ्तर के इन्चार्ज से काफी परिचय हो जाने पर जब चाहे दो या तीन पास बनवा लेने में भी जयदेव को कुछ कठिनाई न होती। साधारणतः पासों की आवश्यकता होने पर कांग्रेसी सदस्यों से चिट्ठी लेकर पास ले लिये जाते थे। जब-तब दूसरे साथी भी असेम्बली आते-जाते रहते ताकि स्थान की परख अच्छी तरह से हो जाय।

भगतसिंह भी जयदेव के साथ एक-दो बार असेम्बली में हो आया था। ऐसे ही एक मौके पर गैलरी में भगतसिंह की डा० किचलू से आंखें चार हो गयीं। इसे दाढ़ी-मूंछ सफाचट देख डा० साहब कुछ विस्मित से रह गये। साण्डर्सकांड अभी ताजा ही था। पहले तो भगतसिंह ने अपना चेहरा अखबार की आड़ में बचाने की कोशिश की परन्तु जब डा० साहब ने पहिचान ही लिया तो बाहर आने पर भगतसिंह ने उनसे निःशंक मुलाकात की। डा० किचलू ने बड़े सौहार्द से यथासंभव

सहायता देने का भी विश्वास दिलाया। देहली में जब-जब भगतसिंह उनसे मिलता, वे सहायता देते भी रहे।

असेम्बली में बम फेंकने की योजना के सम्बन्ध में ब्योरे की कई बातों पर विचार होता रहा। पहला प्रश्न था कि बम फेंकने वाले साथियों को निकाल लाने का यत्न किया जाय या नहीं। आज़ाद भी एक दिन असेम्बली की गैलरी में कार्यवाही देखने गये और स्थिति का निरीक्षण कर इस परिणाम पर पहुँचे कि बम फेंकने वाले साथियों को सुरक्षित निकाल लाना कठिन नहीं परन्तु वहाँ से उन्हें सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने के लिये एक मोटर गाड़ी की जरूरत होगी।

समय पर एक मोटर मिल सकने का भी प्रबन्ध कर लिया गया। यह भी निश्चय हो गया कि कौन-कौन साथी इस काम में भाग लेंगे परन्तु भगतसिंह और विजयकुमार सिन्हा ने आग्रह किया कि असेम्बली में बम फेंक कर केवल परचे बांट देने से ही हम जनता के सम्मुख अपने उद्देश्य को पर्याप्त रूप से स्पष्ट नहीं कर सकेंगे। जनता हिसप्रस को कुछ बिगड़े दिमाग़ ख़ूनी नौजवानों की टोली समझ बैठेगी। आवश्यक यह है कि बम फेंकने वाले साथी बचने की कोशिश न करें। बम फेंकने के साथ वे साम्राज्यवादविरोधी प्रदर्शन भी करें और बाद में मुकद्दमा चलने पर अदालत में अपनी नीति का स्पष्टीकरण करें। इस प्रकार हमारा कार्यक्रम और उद्देश्य जनता के सामने आ सकेंगे। साथियों ने इस मुक-द्दमे की कल्पना हिसप्रस के सैद्धान्तिक मोर्चे के रूप में की थी। साधारणतः हम जो बातें कहना या जनता को सुनाना चाहते थे, वे राजद्रोही समझी जाती थीं। उन्हें कोई पत्र में प्रकाशित करने का साहस नहीं कर सकता था, न सभा के मंच से ही वे बातें कही जा सकती थीं परन्तु यह बातें अभियुक्तों के बयान के रूप में या अभियुक्तों पर लगाये गये अपराध के वर्णन के रूप में प्रकाशित हो सकती थीं। असेम्बली-बमकाण्ड और लाहौर-षड्यंत्र के मुकद्दमों से यह उद्देश्य पूरा हुआ भी। बाद में सरकार भांप गयी कि राजद्रोह के प्रचार के लिये उसकी अदालतों का ही उप-योग कर रहे हैं और हिसप्रस के अभियुक्तों के बयानों का पत्रों में प्रकाशन भी गैरकानूनी करार दे दिया गया।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि उस समय हिसप्रस ने असे-म्बली में बम फेंक लेना ही अपना लक्ष्य नहीं समझा बल्कि बम फेंकने

को अपनी बात कह सकने का अवसर बनाने का उपाय समझा था। यदि बम फेंकना ही लक्ष्य होता तो बम फेंकने के बाद अपने आदमियों को निकाल सकने का अवसर होते हुए भी उन्हें कुर्बान कर देने का कोई अर्थ न होता। बम फेंकने मात्र के लिये दल का कोई भी साहसी व्यक्ति पर्याप्त हो सकता था। इस काम के लिये दल के विशेष योग्य व्यक्तियों को कुर्बान करने का अर्थ केवल यही था कि बम फेंक कर पैदा किये गये वातावरण में अपना उद्देश्य और नीति जनता के सामने रखी जाये। हिसप्रस के इस व्यवहार से स्पष्ट हो जाता है कि इस समय सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टा करने वाले लोग आतंक की अपेक्षा जनमत और जन-शक्ति के संगठन को अधिक महत्व दे रहे थे।

यहां यह याद दिलाना भी अप्रासंगिक न होगा कि दल के सामने काकोरी के बन्दियों को जेल से छुड़ाने का एक पुराना कार्यक्रम मौजूद था ही परन्तु राजनैतिक दृष्टि से सार्वजनिक महत्व का नया कार्यक्रम सामने आ जाने पर उसे ही अधिक महत्व दिया गया। असेम्बली में बम फेंकने को अपना सैद्धान्तिक मोर्चा बनाने का निश्चय कर लेने पर यह समस्या सामने आई कि इस काम के लिये ऐसे साथी नियुक्त किये जायें जो हिसप्रस के उद्देश्य को जनता के सामने स्पष्ट रूप से रखने के योग्य हों। इसके लिये कई बार कई नामों पर विचार किया गया।

'सार्वजनिक सुरक्षा' और 'औद्योगिक विवाद' बिलों पर असेम्बली में बहस बढ़ती ही जा रही थी। समय रहने पर हिसप्रस की केन्द्रीय समिति में भी इस बारे में बार-बार प्रश्न उठते रहते थे। भगतसिंह के साथ कभी जयदेव कपूर का नाम रखा जाता, कभी राजगुरु का। विजयकुमार और शिव वर्मा भगतसिंह को असेम्बली में भेजने का विरोध कर रहे थे। उनका कहना था, कि आजाद और भगतसिंह में से किसी को भी इस काम के लिये नहीं जाना चाहिये क्योंकि संगठन के भविष्य के लिये इन दोनों की अनिवार्य आवश्यकता है।

बटुकेश्वर दत्त यों तो काकोरी के समय से दल के साथ थे परन्तु दल की निश्क्रियता के समय वे कानपुर छोड़ कर बिहार चले गये थे। दल के सक्रिय काम से उनका सम्बन्ध बार बार टूटता रहा था। असेम्बली में बम फेंके जाने के प्रस्ताव की सूचना मिलने पर दत्त ने शिकायत की कि दल के साथ उनका इतना पुराना सम्बन्ध होते हुए भी उन्हें अभी तक

किसी काम में भाग लेने का अवसर क्यों नहीं दिया गया ? खिन्न होकर दत्त ने विरोध किया—"यदि शीघ्र ही किसी काण्ड में सक्रिय भाग लेने का अवसर न दिया जायगा तो हम संगठन से कोई सम्बन्ध ही नहीं रखेंगे।" तय हो गया कि दत्त और विजयकुमार सिन्हा असेम्बली में बम फेंकेंगे। असेम्बली में 'सार्वजनिक सुरक्षा' और 'औद्योगिक विवाद' सम्बन्धी बिल बहुमत से अस्वीकार हो चुके थे। अब प्रतीक्षा यही थी कि इन बिलों पर वाइसराय की स्वीकृति दे दी जाने की घोषणा असेम्बली में किस दिन की जायगी ?

देहली में इक्ट्ठे हुये साथी कुछ न होता देख बहुत उकता रहे थे। एक दिन समाचार मिला कि होली के अवसर पर 'नई-दिल्ली' में बड़े-बड़े हिन्दुस्तानी अफसरों और असेम्बली के सदस्यों ने एक दावत की योजना करके वाइसराय को निमंत्रण दिया है। समाचार मिलते ही तुरन्त तय हो गया कि इस बीच वाइसराय पर ही आक्रमण किया जाय। इस काम के लिये नियुक्त किये गये शिव वर्मा, राजगुरु और जयदेव कपूर।

वाइसराय की सवारी के आगे-आगे सदा एक पाइलट मोटर साइकिल पर चलता है इससे इस सवारी के प्रति लोग सावधान हो जाते हैं। वाइसराय की मोटर को पहचानना भी कठिन नहीं था। उस पर ताज का चिन्ह बना रहता है। यह सब होने पर भी चलती मोटर पर बम सफलता से तभी मारा जा सकता था जब कि मोटर सामने आ जाने के कुछ क्षण पहले ही हाथ तैयार हो जांय। मोटर के आने के रास्ते पर पहले राजगुरु संकेत करने के लिये खड़ा था। उससे कुछ दूर आगे जयदेव कपूर और फिर बीस कदम आगे शिव वर्मा दो-दो बम लिये तैनात थे।

यदि जयदेव का बम चूक जाता तो शिव वर्मा बम फेंकता इतने में जयदेव दूसरा बम लेकर बढ़ आता। जयदेव का बम सफल होने पर भी शिववर्मा को अपने बम से रही सही कमी पूरी कर देने का आदेश था। इस बात का खास खयाल रखा गया था कि भूल से वाइसराय की जगह किसी दूसरे पर बम न फेंक दिया जाये। इसलिये तय था कि राजगुरु पाइलेट के पीछे आने वाली मोटर में, जिस पर ताज का चिन्ह बना रहता है, वाइसराय को पहचान कर संकेत कर देगा। दोनों ही के पास भरे हुये पिस्तौल भी थे यदि दो बम मोटर पर फेंकने से भी वाइस-

राय बच जाता तो उस पर गोली चलायी जाती। इन्हें आदेश था कि आक्रमण करने के बाद को गिरफ्तार करने वालों से लड़ते हुये वहीं समाप्त हो जायंगे।

पाइलट दिखायी देते ही वर्मा और कपूर दोनों ही अपने बमों के घोड़े (ट्राइकर) खींचने के लिये तैयार हो गये और राजगुरु की ओर देखा। राजगुरु ने निश्चित संकेत नहीं किया। ये दोनों विस्मय से हांफते रह गये। जब मोटर इनके सामने से गुजरी तो इन लोगों ने भी देखा कि मोटर में ड्राइवर के सिवा कोई भी मर्द नहीं था; तीन लेडियाँ बैठी हुई थीं।

यह बहुत अच्छा हुआ कि राजगुरु को संकेत के लिये दूर खड़ा कर दिया गया था, वर्न वर्मा और कपूर मोटर का ताज पहचानते ही उस पर आक्रमण कर देते और हिसप्रस के विरुद्ध निन्दा के प्रस्ताव पास करने और वायसराय के प्रति सहानुभूति प्रकट करने का अवसर गांधी जी और कांग्रेस को मिल जाता। ताज वाली मोटर के पीछे और भी दो मोटरें थीं। इनमें भी वाइसराय दिखाई नहीं दिया। बाद में पता लगा कि वाइसराय साहब मछली का शिकार खेलने के लिये गये हुये थे और वहाँ से किसी दूसरे ही रास्ते पार्टी में पहुंचे थे।

हिसप्रस की केन्द्रीय समिति की जिस बैठक में असेम्बली बम फेंकने के लिये भगतसिंह को न भेज कर दूसरे दो साथियों को भेजने का निश्चय किया गया था, उस बैठक में सुखदेव न पहुँच सका था। इस निश्चय की सूचना सुखदेव को भी तुरन्त दी गयी। सूचना मिलते ही सुखदेव सीधा दिल्ली पहुँचा। अगली बात कहने से पहले यह कह दूं कि भगतसिंह और सुखदेव में बहुत ही गहरी घनिष्ठता थी। वे एक दूसरे के लिये जान दे सकते थे। सुखदेव ने भगतसिंह को एकान्त में ले जाकर बात की:—

"असेम्बली में बम फेंकने के लिये तो तुम्हें जाना था, दूसरे आदमियों को भेजने का निश्चय कैसे हो गया?"

सम्भावतः ही भगतसिंह ने उत्तर दिया कि समिति का निर्णय है कि संगठन के भविष्य के लिये उसे पीछे रखने की जरूरत है।

सुखदेव ने अपने रूखे और भद्दे ढंग से विरोध किया—"यह सब

बकवास है। तुम्हारे व्यक्तिगत मित्र की स्थिति से मैं देख रहा हूँ कि तुम अपने पांव कुल्हाड़ी मार रहे हो। यह देख कर मैं चुप नहीं रह सकता। जानते हो, तुम किस रास्ते पर चल रहे हो ? तुम्हारा अहंकार बहुत बढ़ गया है। तुम अपने आपको दल का एक मात्र सहारा समझने लगे हो। तुम सान्याल दादा और जयचन्द्र बनते जा रहे हो ! जानते हो, तुम्हारा क्या अंत होगा ? तुम एक रोज भाई परमानन्द बन जाओगे……।"

सुखदेव ने १९१४-१५ के लाहौर षड़यंत्र के मुकद्दमे में हाईकोर्ट के जज का निर्णय बताया। जज ने भाई परमानन्द जी के लिये कहा था—"भाई परमानन्द इस क्रांतिकारी संगठन का मस्तिष्क और सूत्राधार है परन्तु व्यक्तिगतरूप से यह आदमी कायर है। यह संकट के काम में दूसरों को आगे झोंक कर अपने प्राण बचाने की चेष्टा करता रहा है।"

सुखदेव ने कहा—"तुम सदा तो यों बच नहीं सकते। एक दिन तुम्हें भी अदालत के सामने आना ही पड़ेगा। उस दिन तुम्हारे लिये भी वैसा ही फैसला लिखा जायगा जो भाई परमानन्द के लिये लिखा गया था।"

भगतसिंह के स्वभाव में ओज या उत्तेजना की कमी नहीं थी। वह चुपचाप सुखदेव की ओर देखता रहा। सुखदेव ने यहीं बस नहीं की। वह और आगे बढ़ा—"तुम कहना चाहते हो कि तुम संगठन के हित के लिये शहीद बनने के सम्मान को बलिदान कर रहे हो। ईमानदारी से अपने गिरेबान में झांक कर देखो ! तुम इस समय मौत का सामना नहीं करना चाहते; क्योंकि तुम्हें जिन्दगी इस समय बहुत लुभावनी लग रही है। तुम उस औरत के स्नेह की आंच सेंकना चाहते हो और इसे दल के प्रति उत्तरदायित्व का बहाना बना रहे हो ! तुम दूसरों से जो चाहे कहो, लेकिन मैं तुमसे और तुम मुझसे नहीं छिप सकते। तुम फिसल रहे हो।

भगतसिंह बहुत देर तक कुछ बोल न सका। केवल सुखदेव की ओर घूरता रह गया जैसे पिंजरे में बन्द शेर चोट करने वाले की ओर देखता रह जाय; फिर बोला—"असेम्बली में बम फेंकने मैं ही जाऊँगा। केन्द्रीय समिति को मेरी बात माननी पड़ेगी। तुमने मेरा जो अपमान किया है उसका मैं उत्तर नहीं दूंगा। इसके बाद अब तुम मुझसे कभी बात न करना।"

सुखदेव ने रूखे ही स्वर में उत्तर दिया—"I have done my duty towards my friend. (मैंने अपने मित्र के प्रति अपना कर्तव्य ही पूरा किया है।) इस बातचीत के बाद दोनों अलग-अलग केन्द्रीय स्थान पर पहुँचे।

सुखदेव जब दिल्ली से लाहौर पहुँचा उस समय भी उसकी आँखें सूजी हुई थीं। जान पड़ता था कि बहुत रोया है। वह किसी से बात न कर पाता।

सात तारीख, दोपहर बाद सुखदेव ने भगवती भाई को ढूंढ़ कर कहा—"भगतसिंह से अन्तिम बार मिल लेना चाहते हो तो आज रात की गाड़ी दिल्ली चलो!........भाभी को भी साथ ले लो।

सुशीला जी उस समय छुट्टी लेकर लाहौर में भगवती भाई के यहाँ ही ठहरी हुई थीं। वे भी साथ गयीं। शची लाहौर से कलकत्ते तक और लौटते समय दिल्ली की यात्रा में 'लम्बे चाचा जी' (भगतसिंह) से बहुत हिल गया था। इसलिये उसे भी साथ ले लिया गया। दिल्ली पहुँच कर सुखदेव ने भगवती भाई, दुर्गा भाभी और सुशीलाजी को 'कुदसियाबाग' जा कर प्रतीक्षा करने के लिये कहा और स्वयं दूसरी ओर चला गया।

इन लोगों के कुछ समय प्रतीक्षा करने के बाद सुखदेव, भगतसिंह के साथ वहाँ आया। क्या होने जा रहा है, इस विषय में कोई चर्चा नहीं हुई। भगतसिंह को रसगुल्ले और सन्तरे बहुत पसन्द थे। भाभी और सुशीला जी ये चीजें काफी मात्रा में लेती आई थीं। भगतसिंह को दोनों ने लाड़ से खूब खिलाया। साढ़े दस बजे के लगभग भगतसिंह विदा ले चला गया। भाभी और सुशीला जी इतना तो जानती थी कि भगतसिंह को अन्तिम विदाई दे रही हैं परन्तु यह मालूम न था कि क्या होने जा रहा है। यह दल का अनुशासन था। दोनों ने भगतसिंह को रोली और अक्षत से टीका लगाये।

८ अप्रैल, १९२९ के दिन असेम्बली में हिन्दुस्तानी जनमत के विरोध के बावजूद 'सार्वजनिक सुरक्षा' और 'औद्योगिक विवाद' बिलों को वाइसराय की विशेष स्वीकृति से कानून बना देने की घोषणा की जाने वाली थी। असेम्बली की कार्यवाही आरम्भ होने पर पहले प्रश्न और उत्तर होते हैं। भगतसिंह और दत्त जयदेव कपूर के साथ असेम्बली

में ऐसी जगह जाकर बैठ गये जहाँ से नीचे फर्श पर सरकार के सदस्यों की जगह बिलकुल सामने पड़ती थी।

इस बात पर भी बहुत काफी विचार किया जा चुका था कि बम नीचे लगी हुई असेम्बली के किस भाग में फेंके जायेंगे ? अंग्रेज सरकार के गृहसदस्य और उस समय सरकारी दल के नेता सर शुस्टर और विरोधी दल के नेता पंडित मोतीलाल नेहरू और इनके साथी आमने सामने बहुत समीप ही बैठते थे। बम ठीक जाकर शुस्टर पर फेंकने से सरकारी सदस्यों के साथ ही कांग्रेस के सदस्य भी काफी चोट खा जाते और असेम्बली के प्रधान की कुर्सी पर बैठे विट्ठलभाई पटेल भी उस चोट से बच न सकते। इसलिये यह निश्चय किया गया था कि बम सर शुस्टर के कोच की काठ दीवार के पीछे फेंका जाये ताकि उसकी चोट कांग्रेसी सदस्यों की बेंचों की ओर न जा सके। बम ऐसी जगह फेंकने से उसकी अधिकांश शक्ति जरूर ही भारी काठ के फर्नीचर से दब जाती और सरकारी सदस्यों को भी चोट कम ही आ सकती थी परन्तु इससे कांग्रेस प्रतिनिधियों के लिये आशंका का कोई अवसर नहीं रहता था। यह भी सोचा गया था कि कांग्रेस-सदस्यों को उस दिन असेम्बली में जाने से रोक दिया जाये परन्तु ऐसा करने पर सन्देह हो जाने से बात समय से पूर्व फूट जाने की आशंका थी, इसलिये ऐसा नहीं किया गया।

ज्यों ही सर शुस्टर उपरोक्त बिलों पर वाइसराय की स्वीकृत की घोषणा करने के लिये खड़े हुए, असेम्बली में उपस्थित हिसप्रस के दूसरे साथी बाहर निकल गये। भगतसिंह और दत्त के असेम्बली में जाने के पास इन लोगों ने पहले ही उनसे ले लिये थे। यह सावधानी आवश्यक थी क्योंकि भगतसिंह और दत्त के गिरफ्तार हो जाने के बाद उनकी तलाशी ली जाने पर उनकी जेब में मिले पासों से यह मालूम हो जाता कि किस सदस्य की मार्फत ये पास लिये गये थे। उस सदस्य से अभियुक्तों का सम्बन्ध मान लिया जाता और पुलिस उन्हें परेशान करती।

ज्यों ही सर शुस्टर ने यह घोषणा की कि 'सार्वजनिक सुरक्षा' और 'औद्योगिक विवाद' बिल असेम्बली में बहुमत से अस्वीकार कर दिये जाने पर भी वाइसराय की विशेष स्वीकृति से कानून बना दिये गये हैं, भगतसिंह और दत्त अपनी जगह पर उठ खड़े हुये। पहले से निश्चित स्थान पर भगतसिंह ने एक बम सर शुस्टर के काउच की दीवार

के पीछे फेंक दिया। विस्फोट के भयंकर शब्द से असेम्बली के लोग चहरे से हो कर स्तब्ध रह गये। इसके बाद दूसरा बम दत्त ने लगभग उसी स्थान पर फेंका। असेम्बली में भगदड़ मच गयी। हाल नीले धुयें से भर गया। सब सदस्य और दर्शक आतंक में भागने लगे। उसी समय केवल तीन या चार व्यक्तियों के होश-हवाश दुरुस्त जान पड़े। विट्ठल भाई पटेल, पण्डित मोतीलाल नेहरू और जिन्ना अपनी कुर्सियों पर जैसे बैठे थे, बैठे रहे। सर शुस्टर घोषणा करते समय खड़े थे वे वैसे ही खड़े रह गये। भगतसिंह ने सर जान शुस्टर पर दो गोलियाँ चलायीं। यह गोलियाँ शुस्टर के शरीर पर न लग कर उनके डेस्क पर लगीं। शुस्टर अपने पर वार होता देख एकदम अपनी डेस्क के नीचे दुबक कर छिप गये। शुस्टर के दुबक जाने के बाद भगतसिंह के पिस्तौल में छः गोलियाँ और जेब में आठ गोलियाँ शेष थीं परन्तु उसने किसी दूसरे पर गोली नहीं चलायी।

भगतसिंह और दत्त ने बहुत ऊँचे स्वर में नारे लगाये—

"इन्कलाब जिन्दाबाद!
साम्राज्यवाद का नाश हो!
दुनिया के मजदूरो एक हो!

नारे लगाते हुये उन दोनों ने हिसप्रस के लाल रंग के घोषणापत्र हाल में फेंक दिये। यह पत्र अंग्रेजी में था। उसका हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार है:—

"हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र सेना
सूचना

"बहरों को सुनाने के लिये विस्फोट के बहुत ऊँचे शब्द की आवश्यकता होती है।" प्रसिद्ध फ्रान्सीसी अराजकतावादी शहीद वैलियाँ के यह अमर शब्द हमारे काम के औचित्य की साक्षी हैं।

'पिछले दस वर्षों में ब्रिटिश सरकार द्वारा शासन सुधार के नाम पर इस देश का अपमान करने की कहानी दोहराने की आवश्यकता नहीं और ना ही हिन्दुस्तानी पार्लियामेण्ट पुकारी जाने वाली इस सभा द्वारा हिन्दुस्तानी राष्ट्र के सिर पर पत्थर फेंक-फेंक कर हमारा अपमान करने के उदाहरणों को याद दिलाने की आवश्यकता है। यह सब सुपरिचित और

स्पष्ट है। आज फिर जब कि जनता 'साइमन कमीशन' से कुछ सुधारों के टुकड़ों की आशा में आंखें फैलाये है और इन टुकड़ों के लोभ में आपस में झगड़ रही है, विदेशी सरकार 'सार्वजनिक सुरक्षा' (Public Safty Bill) और 'औद्योगिक विवाद' (Trades Disputes Bill) कानूनों के रूप में अपने दमन को और भी कड़ाकर लेने का यत्न कर रही है। इसके साथ ही आने वाले अधिवेशन में 'अखबारों द्वारा राज-द्रोह रोकने के कानून' (Press Sedition Act) जनता पर कस दिये जाने की भी धमकी दी जा रही है। सार्वजनिक काम करने वाले मजदूर-नेताओं की अन्धाधुन्ध गिरफ्तारियाँ यह स्पष्ट कर देती हैं कि सरकार किस रवैये पर चल रही है।

"राष्ट्रीय-दमन और अपमान की इस उत्तेजना पूर्ण परिस्थिति में अपने उत्तरदायित्व की गम्भीरता अनुभव करके 'हिन्दुस्तान-समाजवादी-प्रजातंत्र संघ' ने अपनी सेना को यह कदम उठाने की आज्ञा दी है। इस कार्य का प्रयोजन है कि कानून का यह अपमान-जनक प्रहसन समाप्त कर दिया जाये। विदेशी शोषक नौकरशाही जो चाहे करे परन्तु उसकी वैधानिकता की नकाब फाड़ देना आवश्यक है।

"जनता के प्रतिनिधियों से हमारा आग्रह है कि वे इस पार्लियामेंट के पाखन्ड को छोड़ कर अपने-अपने निर्वाचन क्षेत्रों में लौट जायें और जनता को विदेशी दमन और शोषण के विरुद्ध क्रान्ति के लिये तैयार करें। हम विदेशी सरकार को यह बता देना चाहते हैं कि हम देश की जनता की ओर से 'सार्वजनिक सुरक्षा' और 'औद्योगिक विवाद' के दमनकारी कानूनों और लाला लाजपतराय की हत्या के विरोध में यह कदम उठा रहे हैं।

"हम मनुष्य के जीवन को पवित्र समझते हैं। हम ऐसे उज्वल भविष्य में विश्वास रखते हैं जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण शांति और स्वतंत्रता का अवसर मिल सके। हम मानव रक्त बहाने के लिये अपनी विवशता के लिये दुखी हैं परन्तु क्रान्ति द्वारा सब को समान स्वतंत्रता देने और मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को समाप्त कर देने के लिये क्रान्ति में कुछ न कुछ रक्तपात अनिवार्य है।

"इन्कलाब जिन्दाबाद। ह० बलराज,
कमांडर-इन-चीफ़

बम के धड़ाके से असेम्बली के सभी लोग और चौकसी के लिये तैनात असेम्बली की पुलिस भी इतनी घबरा गयी थी कि दर्शकों की गैलरी पूरी खाली हो जाने के बाद भी कुछ देर तक किसी ने भी भगतसिंह और दत्त के समीप आने का साहस नहीं किया। भगतसिंह और दत्त अव्वल तो दर्शकों की भीड़ के साथ ही बाहर निकल जा सकते थे और उसके बाद भी निकल जाने का काफ़ी समय था। पिस्तौल और बारह कारतूस अभी इन लोगों के पास मौजूद थे। इन पर चलाये गये मुकद्में में पुलिस के गवाहों के बयान के आधार पर जज ने अपने फैसले में भी यह कहा था कि यदि अभियुक्त चाहते तो उनके बच कर भाग जाने के लिये काफ़ी अवसर था। यह तो पहले से निश्चित था कि उन्हें भाग कर बचना नहीं है बल्कि अपनी बात कह सकने का अवसर पैदा करना है। यह बात भी अप्रासंगिक नहीं होगी कि भगतसिंह और दत्त ने नारे लगाते समय 'ब्रिटिश राज मुर्दाबाद' न कह कर 'साम्राज्यवाद का नाश हो' (Down with Imperialism) का नारा लगाया और संसार के मजदूरों के एके की पुकार की। यह दोनों नारे हिसप्रस के तत्कालीन राजनैतिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिये महत्वपूर्ण हैं।

भगतसिंह और दत्त के काफ़ी देर तक गैलरी में निश्चल खड़े रहने पर सार्जेंट टेरी ने आ कर उनसे प्रश्न किया—"क्या यह तुम्हीं ने किया था?"

भगतसिंह ने हामी भरी। गोली भरा पिस्तौल अब भी उसके हाथ में था। वह चाहता तो उस गोरे सार्जेन्ट को वहीं ठंडा कर देता परन्तु हिसप्रस की युद्ध घोषणा अंग्रेज व्यक्तियों के विरुद्ध नहीं बल्कि अंग्रेज साम्राज्यशाही व्यवस्था के विरुद्ध थी। भगतसिंह उस समय के लिये निश्चित अपना काम कर चुका था। अलबत्ता अगर सर शुस्टर डेस्क के नीचे न छिप जाते तो वह उन पर और गोली जरूर चलाता। सर शुस्टर पर गोली चलाने का कारण यह था कि वे असेम्बली में ब्रिटिश शासन व्यवस्था के मुख्य प्रतिनिधि के रूप में थे। उस समय भगतसिंह और दत्त खाकी निकर और कमीज पहने हुये थे। दोनों के शरीर पर ऊनी कोट भी थे। भगतसिंह हाथ में फेल्ट हैट भी लिये था।

भगतसिंह और दत्त के आत्मसमर्पण कर देने पर सशस्त्र पुलिस

ने उन्हें बड़े साजबाज से गिरफ्तार कर लिया और खूब चौकसी से घेर कर उन्हें अलग-अलग मोटर में बैठा 'नई दिल्ली' के थाने की ओर ले चली गयीं ।

भगतसिंह और दत्त को लिये मोटरें सड़क पर एक टांगे के पास से गुजरीं । इस टांगे में भगवतीचरण, भाबी और सुशीला जी मौजूद थे ; सुखदेव टांगे का सहारा लिये साइकिल पर साथ-साथ चल रहा था । टांगे के पास से पुलिस से भरी मोटरें गुजरने पर इन लोगों ने एक दूसरे को पहचाना परन्तु व्यवहार किया न पहचानने का ? यह मन का कितना बड़ा संयम था ? भगतसिंह को उस समय मृत्यु के हाथों से लौटा लेने के लिये अपने प्राण दे देना इनके लिये अधिक आसान होता । संयम और अनुशासन का ऐसा उदाहरण विकृत मस्तिष्क या कायर के लिये कभी सम्भव नहीं हो सकता । वयस्क और समझदार लोग तो वैसे ही चुप रहे जैसे 'पन्ना दाई' कर्तव्यरक्षा में अपनी सन्तान को टुकड़े-टुकड़े होते देख कर चुप रह गई थी परन्तु भाबी की गोद में बैठा शची भगतसिंह को लिये समीप से गुजरती मोटर की तरफ बांह उठा कर जोर से चिल्ला उठा—"लम्बे चाचा जी ।"

भाबी ने तुरन्त शची का मुंह गोद में दबा कर चुप करा दिया । यह क्या पीड़ा से उठती रुलाई निकलने न देने के लिये अपना गला घोंट लेने से कम था............?

असेम्बली में बम विस्फोट की इस घटना के समाचार ने देश भर को हिला दिया । अंग्रेजी सरकार की पुलिस घबरा गयी थी । दिल्ली से तुरन्त कलकत्ते की 'विशेष क्रान्तिकारी पुलिस' (Special Terrorist Police) को पुकारा गया । दिल्ली से सभी दूसरे प्रान्तों की राजधानियों तक टेलीफोन और दूसरे तार सरकारी सन्देशों के लिये रिजर्व कर लिये गये । उस समय दिल्ली में 'स्टेटसमैन' के संवाददाता लाला दुर्गादास थे । उन्होंने उसी समय असेम्बली बमकांड का समाचार टेलीफोन या तार द्वारा कलकत्ते भेजना चाहा परन्तु समाचार भेजने के सभी साधन सरकारी काम के लिये रिजर्व थे । ला० दुर्गादास ने इस समय पत्रकार की विशेष सूझ दिखायी । उन्होंने यह समाचार 'स्टेट्समैन' के लन्दन दफ्तर को भेज दिया और लन्दन से यह समाचार वायरलेस

से कलकत्ते भेज दिया गया । जिस समय 'ऐसोशियेटेड प्रेस आफ इण्डिया' द्वारा इस घटना का समाचार कलकत्ते के दूसरे पत्रों को मिला, 'स्टेटसमैन' का 'विशेषांक' बाजार में भी पहुँच चुका था ।

पुलिस ने इस कांड के पीछे षड्यंत्र का पता लगाने की सिर तोड़ कोशिशें की परन्तु कहीं कोई सूत्र न मिल सका। इस समय तक साण्डर्स-बध का भी कोई सुराग न मिल सका था । लाहौर-षड्यंत्र और साण्डर्स-बध से इस घटना के सम्बन्ध का पता लाहौर-बम फैक्ट्री में गिरफ्तार किये गये मुखबिर जयगोपाल के बयान से ही मिला था ।

अदालत के मंच से अपनी बात कह सकने के लिये हिसप्रस ने भगतसिंह और दत्त को असेम्बली-हाल में बलिदान किया था । अदालत में अपनी बात किस प्रकार कह सकते थे ? उन पर असेम्बली में बम फेंक कर नरहत्या करने की चेष्टा का अभियोग लगाया गया था और सेशन जज ने भारत दण्ड विधान की धारा ३०७ और विस्फोटक पदार्थ रखने के अपराध में उन्हें उम्र कैद का दण्ड दिया था ।

भगतसिंह ने अदालत में बम फेंकने से इन्कार नहीं किया परन्तु नरहत्या के लिये प्रयत्न के अभियोग से इन्कार करते हुए सफ़ाई दी कि हमने बम नरहत्या के अभिप्राय से नहीं फेंका बल्कि देश में वर्तमान संकटापन्न परिस्थिति की चेतावनी के लिये फेंका है । उसने इस बात पर जोर दिया कि असेम्बली में बम फेंकने के उसके कृत्य को उसके उद्देश्यों और अभिप्राय से पृथक करके नहीं समझा जा सकता । इसलिये अदालत और जनता को हमारे उद्देश्य और अभिप्राय पर ध्यान देना ही होगा ।

सेशन जज ने उद्देश्य की बात को गौण बताते हुए अपने फैसले में लिखा था—"साधारणतः उद्देश्य से अपराध की कानूनी स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । अदालत के सामने जो अपराध आया है उसी पर हमें विचार करना है ।" जज के इस निष्कर्ष के विरोध में भगतसिंह ने जो युक्तियाँ लाहौर हाईकोर्ट में दी थीं वे उसकी तीक्ष्ण प्रतिभा और सूझ का बहुत अच्छा उदाहरण हैं । उद्देश्य को कार्य से पृथक न कर सकने के पक्ष में उसने उदाहरण दिया था:—जहाँ तक मनुष्य के प्राण लेने का प्रश्न है किसी व्यक्ति को कत्ल कर देने अथवा युद्ध में हजारों

आदमियों को मशीनगनों और तोपों से मार डालने का परिणाम एक सा ही होता है परन्तु समाज और संसार सेनापतियों और युद्ध करने वाले राष्ट्रों को कातिल नहीं कहता। किसी आदमी को धमकाकर उसकी जेब खाली कर लेने और राज्य कर वसूल करने वाले सरकारी आदमी को एक ही कोटी में नहीं रखा जाता हालांकि परिणाम दोनो के कामों का एक ही होता है; दूसरे से धन वसूल कर लेना! भगतसिंह ने 'सालोमान' का उद्धरण याद दिलाया कि:—आटे में संखिया चूहों से छुटकारा लेने के लिये भी मिलाया जा सकता है और किसी आदमी की हत्या करने के लिये भी। आटे में संखिया मिलाने के काम को उद्देश्य और अभिप्राय की दृष्टि से ही अच्छा या बुरा बताया जा सकता है। उसने हाईकोर्ट को सुझाया कि सेशन जज ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि यदि अभियुक्त चाहते तो वे बम कांड के बाद साफ निकल जाते। हम लोग भागे नहीं! तो इसका एक ही अर्थ है कि हम सरकार और देश का ध्यान देश में मौजूद संकट की ओर आकर्षित करना चाहते हैं। किसी व्यक्ति की हत्या करना हमारा लक्ष नहीं था, यह बात बम को खास बन्द जगह में फेंकने से ही प्रमाणित हो जाती है। बम फेंकना ही हमारा लक्ष होता तो बम फेंक कर हम भाग जाते और अदालत में पेश किये जाने के लिये खड़े न रहते।

भगतसिंह ने हाईकोर्ट के सामने कहा:—"हमें जो दण्ड दिया गया है उसके प्रति हमें कोई एतराज नहीं है। हमें एतराज है केवल कातिल कहे जाने पर और हमारा उद्देश्य गलत समझे जाने पर!" क्रान्ति की परिभाषा करते हुए उसने कहा—"क्रान्ति का विरोध करने वाले लोग केवल पिस्तौल, बम, तलवार और रक्तपात को ही क्रान्ति का नाम दे देते हैं परन्तु क्रान्ति इन चीजों में ही सीमित नहीं। यह चाजें क्रान्ति के उपकरण हो सकती हैं परन्तु इन उपकरणों के उपयोग के पीछे क्रान्ति की वास्तविक शक्ति जनता द्वारा समाज की आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था में परिवर्तन करने की इच्छा ही होती है। हमारी आधुनिक परिस्थितियों में क्रान्ति का उद्देश्य कुछ व्यक्तियों का रक्तपात करना नहीं, मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की प्रथा को समाप्त करके इस देश के लिये आत्मनिर्णय का अधिकार प्राप्त करना है।



५

लाहौर बम फैक्टरी

जिस समय दिल्ली के बाजार सीताराम में जयदेव कपूर द्वारा लिये मकान में केन्द्र बना कर असेम्बली बमकांड की योजना बनायी जा रही थी, लाहौर में भी हिसप्रस का संगठन जनता में उत्पन्न हो गयी सहानुभूति के सहारे जड़ें पकड़ कर फैल रहा था।

नौकरी करते मुझे लगभग एक वर्ष हो गया था। मैंने लायलपुर में 'आर्य कन्या पाठशाला' से मां की नौकरी छुड़वा दी थी। सुखदेव ने सहायता के लिये बहिन प्रेमवती को भी लायलपुर से लाहौर बुलवा लेने के लिये कहा। डा० गोपीचन्द से कह कर मैंने लाहौर की 'बच्छोवाली आर्य कन्यापाठशाला' में नौकरी का प्रबन्ध करा दिया था।

लायलपुर में बहिन प्रेमवती के पिता का देहान्त हो चुका था। उनके लाहौर आने पर उनकी मां और मेरी मां भी साथ ही आ गयीं। 'बच्छोवाली' गली में हम लोगों ने एक मकान किराये ले लिया था। बहिन प्रेमवती का लायलपुर से बुला लिया जाना भी बहुत उपयोगी हुआ। वे लगभग पांच-छः वर्ष पूर्व विधवा हो चुकी थीं। स्वभाव से ही वे जिस ओर लग जातीं, लग जातीं। विधवा होने के समय उन्होंने आत्महत्या करने की चेष्टा की थी परन्तु लोगों ने ऐन समय पर उन्हें रोक लिया। अलग कमरे में जा कर वे सिर और कपड़ों पर मिट्टी का तेल डाल चुकी थीं। एक दम दुर्गन्ध पा लोग उस ओर चले गये। दियासलाई जलाते समय उनके जेठ ने उनके दोनों हाथ पकड़ लिये। लगभग तीन वर्ष तक किसी से बोलती ही न थीं। उनकी इस मानसिक अवस्था का उपाय करने के लिये उनके पिता ने उन्हें कन्या पाठशाला में अवैतनिक अध्यापिका का काम

दिला दिया। पिता के देहान्त के बाद वे परिवार की सहायता के लिये वेतन पर काम करने लगीं।

उन्हें जीवन की ओर अधिक उत्साहित करने के लिये मैंने सुझाया कि 'पंजाब यूनिवर्सिटी' की हिन्दी परीक्षायें दे डालो तो अध्यापिका के तौर पर तुम्हारी स्थिति अच्छी हो जायगी। मैं जिन दिनों लायलपुर में था, इन्हें भूषण की परीक्षा की तैयारी करा रहा था। उसी पढ़ाई-लिखाई के सिलसिले में देश और क्रान्ति की भी बात होने लगी और बहिन प्रेमवती को यह अनुभव हुआ कि उनके निरुद्देश्य जीवन में भी एक बड़ा भारी उद्देश्य है।

बहिन प्रेमवती 'बच्छोवाली कन्यापाठशाला' में हिन्दी की विशेष अध्यापिका के तौर पर आयी थीं। उन्होंने ही आते दो महीनों में लड़कियों और स्त्रियों में संगठन का अच्छा खासा जाल फैला लिया। हर महीने वे अपने क्षेत्र में सौ-डेढ़-सौ रुपया संगठन के लिये इकट्ठा कर लेतीं। इससे लड़कियों और स्त्रियों में प्रचार के लिये कुछ साहित्य हिन्दी-उर्दू में खरीद लेने के बाद शेष रुपया सुखदेव को दे देतीं। विशेष अवसर पर अधिक रुपया जमा कर लेना भी उनके लिये कठिन काम न था। लड़कियों को उन पर इतना भरोसा था कि उनके इशारे पर कोई छोटा-मोटा जेवर दे डालना भी बड़ी बात नहीं थी। अनेक बार उनके रुपये के लिये आग्रह करने पर लड़कियाँ अपने घर से चोरी करके भी रुपया ला देतीं। लड़कियाँ भी खूब समझती थी कि वे क्या और किस लिये कर रहीं हैं। आठ दस लड़कियों का तो उनका खासा विश्वासपात्र दल था जो बाद में लाहौर-षड्यंत्र केस आरम्भ हो जाने पर अभियुक्तों की बहिन-भतीजी बन कर जेल में उनसे भेंट कर आतीं और सन्देश लाने-लेजाने का काम नियमित रूप से करती रहती थीं।

बहिन प्रेमवती की खास चेलियां थीं प्रकाशवती और पंजाब के पुराने क्रान्तिकारी नेता ला० पिण्डीदास जी की लड़की स्वदेश। प्रकाशवती तो घरबार छोड़ हिसप्रस में आ मिलीं। 'दिल्ली-षडयंत्र' केस के मुखबिरों ने बताया कि दिल्ली में बड़ी बमफैक्टरी बनायी जाने पर वे इस फैक्टरी की प्रबन्धकर्ता बनायी गयी थीं। दुर्गा भाभी, सुशीला दीदी और प्रकाशवती तीनों की गिरफ्तारी के लिये सरकार ने इनाम की घोषणा भी की थी।

प्रकाशवती इन षड़यंत्रों के सभी फरारों के गिरफ्तार हो जाने के बाद सन १६३४ में गिरफ्तार हुईं।

इन दिनों भगवती भाई के घर पर उनके 'मेरठ-षडयंत्र' से सम्बन्धित होने के सन्देह के कारण बार-बार तलाशियां हो रही थीं। एक बार सुखदेव बम के कुछ खोल तैयार करवा कर साथ लिये था। किसी काम से भाबी से मिलने आया और दूसरी जगह जाते समय खोल भाबी के यहां ही छोड़ गया। अवसरवश दोपहर बाद, चार बजे पुलिस ने आकर तलाशी का वारण्ट दिखा दिया।

भाबी मन ही मन चाहे जितना घबराई हों परन्तु पुलिस को धैर्य से जवाब दिया—"मेरे पति घर पर नहीं है, कोई दूसरा मर्द भी यहां नहीं है। जब तक कोई भरोसे का आदमी यहां न हो, मैं तलाशी नहीं लेने दूंगी। तलाशी के समय मेरे गवाह भी तो होने चाहियें! आप साथ कुछ लिये हों और कह दें मेरे घर से यह चीज निकली है?"

पुलिस उनके यहां गैरकानूनी कम्युनिस्ट साहित्य ढूंढ़ने आई थी। पुलिस के मन में अभियुक्त के बारे में जैसी धारणा होती है, वैसा ही व्यवहार किया जाता है। पुलिस इस बात के लिये तैयार हो गयी कि देखे बिना मकान के बाहर कोई चीज नहीं ले जाने दी जायगी। भाबी अपने भरोसे के जिस आदमी को बुलाना चाहें बुला लायें। तब तक पुलिस घेरा डाले बैठी रहेगी।

भाबी परेशानी में हमारे यहां पहुँची और बहिन प्रेमवती को और मुझे स्थिति बतायी। हम लोग भाबी को ले तुरंत स्वदेश के घर पहुँचे। स्वदेश का घर 'गवालमंडी' में भाबी के घर से कुछ ही कदम पर था। हमने भाबी को अपने साथ रोक कर स्वदेश को उनके घर भेजा।

स्वदेश ने जाकर पुलिस से कहा कि वह सुशीला दीदी के गोदी लिये बीमार बच्चे को देखने आयी है। वह भीतर चली गयी। उसे बता दिया गया था कि बम के खोल कहां रखे हैं। स्वदेश ने उन्हें अपने कपड़ों में छिपा लिया और पुलिस के सामने घर में मौजूद सुशीला दीदी की छोटी बहिन से बच्चे के लिये दवाई लेकर फिर जल्दी लौटने की बात कह कर, बमों के खोल अपने कपड़ों में छिपाये लौट आयी। हम लोग स्वदेश के घर पर प्रतीक्षा कर रहे थे। भय का कारण दूर हो जाने पर भाबी मुझे लिये घर पहुंची। मैंने भगवती भाई की ओर से बहुत उदासीनता से तलाशी

का वारण्ट देखा और पुलिस को बड़ी खुशी से अपने सामने तलाशी ले लेने का निमंत्रण दे दिया।

सांडर्स के वध के दूसरे दिन डा० गोपीचन्द भार्गव से साफ-साफ बात करने पर उन्होंने बिना किसी तर्क के दो सौ रुपये थमा दिये तो बहुत उत्साह बढ़ा था कि दल को एक प्रभावशाली सहायक और समर्थक मिल गया। इसके बाद मैंने यह अनुभव किया कि डा० साहब ने अपने असेम्बली के काम और दूसरे कामों के बारे में भी मुझसे बात-चीत करना कम कर दिया। उत्साह की अधिकता में उस समय इसका भी अर्थ मैंने यही लगाया कि वे मुझे अपने काम के लिये पूरा अवसर दे देना चाहते हैं। शीघ्र ही मालूम हो गया कि डा० साहब का यह व्यवहार मेरा उत्साह बढ़ाने के लिये नहीं बल्कि मुझे आपत्तिजनक आदमी समझ कर मुझे दूर रखने के लिये ही था। ऐसी अवस्था में उनकी नौकरी कैसे निभती? 'मच्छीहट्टे' में हिन्दू-संगठन के दफ्तर के लिये जो जगह उन्होंने लेकर दी थी वह भी मुझे छोड़नी पड़ी।

डा० साहब की तरफ मेरी तीन महीने की तनखा बकाया थी। एक दो बार तकल्लुफ से उसके लिये याद दिलायी। उन्होंने अपने सदा मुस्कान भरे चेहरे से कह दिया—"अरे भई हो जायगा।" इस पर और क्या कहा जा सकता था? अलबत्ता उन्होंने 'लक्ष्मी इंश्योरेंस कम्पनी' में नौकरी के लिये मेरी सिफारिश जरूर कर दी।

इस सिफारिश के लिये मुझे डा० साहब के प्रति कृतज्ञ ही रहना चाहिये परन्तु सम्भव है, मुझसे पीछा छुड़ाने के लिये उन्होंने यही उचित समझा हो! 'लक्ष्मी इंश्योरेंस कम्पनी' में तनखा काफी कम थी। उस तनखा पर मैं काम करने के लिये कभी तैयार न होता परन्तु मजबूरी यह थी कि माँ लायलपुर से नौकरी छोड़ कर लाहौर में आ गयी थीं। निर्वाह के लिये कुछ न कुछ तो करना ही था। सबसे कड़वी स्मृति 'लक्ष्मी इंश्योरेन्स कम्पनी' में क्लर्क के काम की है। इससे पहले मैंने जहाँ जो काम किया, किसी को असन्तोष नहीं हुआ बल्कि मैंने परिश्रम और योग्यता के लिये प्रशंसा ही पायी थी। क्लर्क के काम के लिये मैं सर्वथा अयोग्य प्रमाणित हुआ। स्वयं मुझे ही वह काम इतना अरुचिकर जान पड़ता था कि मन उसमें पैठ ही न पाता। बात-बात में मैं गलती करता और नुक्ताचीनी सुनता। कहाँ मेरी महत्वाकाँक्षा सफल वकील, प्रोफेसर

या जिम्मेवार राजनैतिक कार्यकर्त्ता बनने की थी और मैं क्लर्क की कुर्सी पर बैठा दिन भर बीमों की 'इण्टेरिम रिसीट्स' काटा करता या गाहकों को बीमे की किश्त भेजने के लिये चेतावनी के पत्र लिखता रहता।

सबसे बड़ी उलझन तब होती जब सुखदेव किसी काम की ड्यूटी लगा देता। दफ्तर से छुट्टी मांगने पर हेडक्लर्क बाबू घूर कर डांटते—"छुट्टी !......रोज छुट्टी ! अगर तुम्हारे जिम्मे इतने जरूरी काम हैं तो हमें ही छुट्टी दे दो ! कम्पनी को आदमियों की कमी नहीं है। कम्पनी के लिये कम्पनी का काम जरूरी है।" मैं मन ही मन घुटन अनुभव करता—"क्या मेरे लिये क्लर्क का ही काम रह गया है ?" ऐसा अनुभव होता कि कागज के बने डिब्बे में बन्द हो गया हूँ पर विवशता में उसे तोड़ भी नहीं सकता। मैं इसे अपना व्यक्तिगत दुर्भाग्य नहीं बल्कि अपने समाज की व्यवस्था में अवसर की कमी अनुभव करने लगा। इसका उपाय भी मुझे देश और समाज की व्यवस्था में परिवर्तन ही दीखता था। इस समय मैं क्रान्ति को परोपकार की वस्तु नहीं बल्कि अपने जीवन की मांग समझने लगा था।

आगरा से केन्द्र दिल्ली में बदल दिये जाने पर युक्तप्रान्त की ओर से सहारनपुर की 'लक्कड़मंडी' में गये और लाहौर में 'किला गुज्जरसिंह' के पास 'काश्मीरी-बिल्डिंग' में बम फैक्टरी जमाने की योजनायें हो रही थीं। 'काश्मीरी बिल्डिंग' का एक हिस्सा भगवती भाई ने तीन-चार महीने पहले से ही किराये पर ले रखा था। जाने क्यों यह कमरा उन्हों ने अपने असली नाम से ही लिया था। आवश्यकता होने पर सुखदेव दिल्ली और युक्तप्रान्त से आये लोगों को भी वहाँ टिका देता। बम-फैक्टरी पकड़ी जाने के बाद मैंने भगवती भाई से पूछा भी कि अपने असली नाम से मकान किराये पर लेने के सत्य का पालन करने की क्या जरूरत थी ? उन्होंने उत्तर दिया—"असल में यह जगह ली थी घर से दूर रह कर कुछ लिखने-पढ़ने का काम करने के लिये।"

भगवती भाई का ऐसा करना अस्वभाविक भी न था। उन दिनों उनका मकान लाहौर में सशस्त्र क्रांति की चेष्टा और नौजवान भारत सभा के काम का प्रधान अड्डा बना हुआ था। दुर्गा भाभी इतने आदमियों को चले आते देख मन में चाहे कितनी परेशान होती हों परन्तु मुख से तो केवल निकलता था—"आओ !" नौकर न होने पर आटे की एक

पश्चात समाप्त हो जाने पर वे दूसरी गूंथने बैठ जातीं। संगति-गोष्ठी के लिये आने वाले भी काफी थे। भगवती भाई कुछ दिन संगीत का भी शौक कर चुके थे। इन लोगों का आना-जाना इसलिये अच्छा था कि उनके मकान पर नजर रखने के लिये तैनात खुफिया पुलिस यह न समझे कि केवल राजनैतिक रूप से सन्दिग्ध लोग ही यहां आते हैं। दो-चार भले आदमी शची की वजह से भी आते रहते। शची उन दिनों सब का लाड़ला और जगत-भतीजा हो रहा था। उसके ढंग भी कुछ ऐसे थे कि सब को प्यारा लगता। वह सभी से इतना हिल-मिल गया था कि जिस किसी के साथ चल देता। कभी कोई भले लोग भाभी से कहे बिना ही उसे लेकर चल देते और भाभी घण्टों दुविधा में व्याकुल रहतीं।

एक दिन यह परिहास दूर तक पहुँचा गया। मैं दिन डूबे काफी देर से भगवती भाई के यहाँ गया तो भाभी को बहुत परेशान पाया। कई घण्टे से शची का पता न था। यों भाभी चाहे जितना धैर्य दिखा रही हों परन्तु था तो मां का हृदय!....और एकलौता बेटा! गली में खड़े रहने वाले खुफिया पुलिस को ढूंढा कि उसी ने किसी के साथ शची को जाते देखा हो। उस समय वह भी नदारद था।

भाभी ने दो एक नाम लेकर सुझाया कि वे न साथ लेते गये हों? "लेकिन कह तो जाते?" मुझे उन लोगों के घर मालूम न थे। मैंने पूछा धन्वन्तरी तो नहीं आये थे? शची उनसे बहुत हिला था। धन्वन्तरी कभी-कभी शची के लिये जेब में जलेबी लिये आते। उन्हें शची 'जलेबी चाचा' ही पुकारता था। शची ने सब चाचाओं के अपने नाम रख लिये थे। भगतसिंह तो 'लम्बे चाचाजी' था ही, सुखदेव को वह 'बाजा-चाचा जी' कहता था। सुखदेव उसे एकान्त में जेब से पिस्तौल निकाल कर दिखाया करता और "यह क्या है?" पूछने पर उत्तर देता—"बाजा है, बजता है।" मुझे बच्चों से अनुराग कम ही था परन्तु उसे देख कभी छेड़खानी करने ही लगता। मुझे वह 'गन्दे चाचा जी' पुकारता था।

मैं साइकिल पर धन्वन्तरी के यहाँ गया। वहाँ शची को न पा दो चार जगह और देखा। चिन्ता में चार-छः आदमी भी इकट्ठे हो गये। आखिर पुलिस-थानों में लड़के का हुलिया बताकर फोन से पता लिया। कहीं से भी समाधान न हुआ। भाभी बड़े यत्न से आँखों को डबडबाने से रोके हुये थीं।

इतने में देखा, शची साहब खुफिया-पुलिस वाले कि साइकिल पर आगे बैठे चले आ रहे हैं। "कहाँ था यह ?"—मैंने गुस्से में पूछा।

"अपनी घरवाली को दिखाने ले गया था।………बड़ा प्यारा बच्चा है जी।"—पुलिस वाले ने दांत दिखा दिये।

भाबी क्रोध में शची को बांह से खींच कर भीतर ले गइ—"चल तेरी चमड़ी उधेड़ूं। नालायक जिसके साथ देखता है, चल देता है।"—एक चांटा लगा हो तो दिया—"क्यों गया था ?" फिर जायगा ?

"रचगुल्ला काने गया ता"—आंसू छलकी आंखों से शची ने उत्तर दिया। इसके आगे क्या किया जा सकता था ?

घर में बनी रहने वाली उपरोक्त भीड़ की अवस्था में भगवती भाई 'भारतीय क्रान्ति का इतिहास' या कविता कैसे लिख पाते ? एक एकान्त जगह की आवश्यकता तो जरूर थी ही परन्तु सुखदेव को वहां जाने से कौन रोकता ? क्रान्ति की आवश्यकता सब आवश्यकताओं से बड़ी थी। यह बात पहले कहना याद नहीं रहा था कि भगवती भाई कभी-कभी कविता भी करते थे।*

इस समय भगवतीचरण तो 'मेरठ केस' के वारंटों की आशंका में प्राय: लाहौर से बाहर कभी आगरा और कभी इलाहाबाद रहते थे। सुखदेव ने कश्मीरी बिल्डिंग के मकान में ही बमफैक्टरी का सरंजाम बांधना शुरू किया। मैं इस मकान में पहले तो दो-तीन बार केवल किसी साथी को पहुँचाने ही गया था। सुखदेव की हिदायत बिना मैं वहाँ जाता भी न था। अब सुखदेव के कहने से कुछ रसायनिक उपकरण (Scientific apparatus) खरीद कर वहाँ पहुँचाने के लिये गया तो शिव वर्मा को वहाँ पहिली बार देखा। कुछ रसायनिक चीजें वहां पहले से भी मौजूद थीं। इतना भोला तो मैं नहीं था कि रसायनिक चीजें खरीदने का अर्थ न समझ पाता। समझ गया कि विस्फोटक पदार्थ (बम का मसाला) बनाने की तैयारी है। उसके लिये कौतूहल और उत्साह भी खूब था।

सुखदेव के आने पर बात-चीत आरम्भ हुई कि प्रयोग के समय किस-किस साथी को बुलाना चाहिये। शिव वर्मा की राय थी कि इस काम में अधिक भीड़ करना ठीक नहीं, वही साथी ज्यादा उपयोगी हो

* उनकी एक कविता उनके चित्र के साथ दी जा रही है।

सकते है जिन्होंने कालिज में रसायन की थोड़ी बहुत शिक्षा पाई हो। रसायन की शिक्षा हम में से पायी थी केवल भगवती भाई ने। मैंने तो कालिज में अर्थशास्त्र और राजनीति ही पढ़े थे। भगवती उस समय लाहौर में थे नहीं। सुखदेव ने मुझे भी यह काम सिखाना चाहा। निश्चय हुआ कि पहले बम के तोड़े के लिए 'मर्करीफलमिनेट' बनाया जाय। वजह शायद यह थी कि 'पिकरिक-एसिड' और 'गनकाटन' तो आगरा से बने-बनाये आ गये थे; या यह कि 'मर्करीफलमिनेट बनाना ही सब से सहल था। 'पिकरिक एसिड' बनाने के लिये दूसरे रसायनिक उपकरणों की भी आवश्यकता थी जो अभी खरीदे नहीं गये थे।

दोपहर बीत चुकी थी। चीनी की एक बड़ी तश्तरी में कुछ पारा डाल कर सुखदेव ने उसमें आहिस्ता आहिस्ता एक तेजाब मिलाना शुरू किया। तश्तरी में से धुयें के हलके-हलके बादल उठने लगे और हम लोगों को खांसी शुरू हुई। तौलिये और रूमाल नाक और मुंह पर रख कर हम लोग जुटे ही रहे। पारे में तेजाब मिलाते समय शीशे की एक छड़ से उसे लगातार हिलाते रहना भी आवश्यक था। इसलिये दूर भी न हटा जा सकता था। जब एक तेजाब पारे में मिलाया जा चुका तो नुस्खा देख कर दूसरा तेजाब उसमें मिलाना शुरू किया। इस तेजाब की कुछ बूंदें पड़ते ही पूरा कमरा गहरे नीले धुयें से ऐसे भर गया कि हम तश्तरी में पड़े पारे और तेजाब को कठिनता से देख सकते थे। इस समय भी इस मिश्रण को दूसरे तेजाब की पूरी मात्रा मिला देने तक हिलाते रहना आवश्यक था। खांसी और दम घुटने का यह हाल था कि आपस में यह भी नहीं कह सकते थे कि हम लोगों में से दो बाहर चले जायँ और बारी-बारी से एक-एक आदमी आकर इस काम को करें। जब दम घुटने की छटपटाहट अनुभव होने लगी तो पहले सुखदेव उठ कर सेहन में गया उसके बाद हम दोनों भी चले गये। बाहर आकर यही तय किया कि हम लोग बारी-बारी से जायँ और जितनी देर तक बिना श्वास लिये भीतर रह सकते हैं, ठहर कर तेजाब की थोड़ी-थोड़ी मात्रा मिलाते हुए उसे शीशे की छड़ से हिलाते रहें। यही क्रम चलता रहा।

बाहर आने पर मैंने सुखदेव से इसी समय कहा कि यह काम हम लोग बहुत मूर्खतापूर्ण कर रहे हैं। दोमंजिले पर दायें बायें घर खाली थे परन्तु वह दुर्गन्ध तो दो सौ गज से भी दूर तक जा रही होगी।

सुखदेव ने उपेक्षा से उत्तर दिया—"जो काम करना है किया ही जायगा।"—मैंने फिर भी आग्रह किया कि तुम अपने कष्ट की परवाह बेशक न करो किन्तु दूसरों का ध्यान भी तो आकर्षित नहीं होना चाहिये।

प्रायः दो घण्टे की इस सिर दर्दी के बाद खुरसे जैसे रंग का पदार्थ 'मर्करी फलमिनेट' बन गया जिसकी मात्रा एक अठन्नी के ऊपर रखी जा सकती थी। इसे पानी भरी बोतल में छोड़ कर रख लिया गया। तेजाबों के नाम मैंने जानबूझ कर नहीं लिखे हैं ताकि कोई दुस्साहसी युवक यह चेष्टा करने की बात न सोचे। बाद में इस विषय में लगातार खोज करने पर मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि बम में तोड़ा लगाने के लिये 'मर्करीफलमिनेट' अनिवार्य भी नहीं है। बम के तोड़े या डिटोनेटर का काम दूसरी बहुत ही मामूली चीजों से भी लिया जा सकता है।

उस रात मैं बम फैक्टरी में ही सोया। इसके बाद भी कई दिन वहाँ सोना पड़ा। हम लोग पड़ोस से तन्दूर की रोटी और दाल ले आते थे। एक बड़ी भारी चूक इस फैक्टरी के सम्बन्ध में मुझसे यह हुई कि कुछ आवश्यक कपड़े और बर्तन मैं अपने घर से ही ले आया था जिन पर मेरा नाम था। फैक्टरी पकड़े जाने पर यह चीजें फैक्टरी से मेरे सम्बन्ध की साक्षी बन गयीं।

अप्रैल १६२६ की ४ या ५ तारीख को सुखदेव ने मुझे भगतसिंह और दत्त के फोटो के नेगेटिव दिये। यह बताना आवश्यक नहीं समझा कि फोटो किनके हैं। उसने कहा—"एक ऐसा चित्र बनना चाहिये कि बम-विस्फोट के दृश्य में यह दोनों तस्वीरें एक साथ सट जायें।" कोई सवाल-जवाब किये बिना मैंने उसकी आज्ञा पूरी करने की योजना बनायी। विस्फोट का एक काल्पनिक चित्र बना कर उसमें भगतसिंह और दत्त के नेगेटिव से बने चित्र चिपका दिये और फिर उसी फोटोग्राफर से कहा कि अब इसका एक फोटो लेकर छः कापियां बना दो।

इस बीच असेम्बली-बम कांड हो चुका था। फोटोग्राफर आज-कल करता जा रहा था। लगभग ११ अप्रैल को जब मैं फोटोग्राफर से यह चित्र लेने गया तो वहाँ कुल्ले पर तुर्रेदार पगड़ी बांधे एक व्यक्ति को बैठे देखा जो मेरी ओर बहुत ध्यान से देख रहा था। बात समझते देर लगी। इससे पूर्व लाहौर के समाचार पत्रों में असेम्बली-बमकांड

की घटना और भगतसिंह और दत्त के चित्र प्रकाशित हो चुके थे। यदि फोटोग्राफर ने काम समय पर कर दिया होता तो इसमें फँसने की कोई बात नहीं थी परन्तु अखबारों में भगतसिंह और दत्त के चित्र प्रकाशित हो जाने के बाद उनके चित्रों को इस रूप में तैयार करवाने वाले व्यक्ति की ओर पुलिस का ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक था। अब उचित यही होता कि मैं वह तस्वीरें लेने न जाता परन्तु अनुभव जो न था।

ग़नीमत यही थी कि फोटो लेने मैं साइकिल पर गया था। ज्यों ही दाम दे कर तस्वीरें ले मैं बाहर निकला मुझे ध्यान से देखने वाला आदमी भी, जो पहरावे से ही पंजाब खुफिया-पुलिस का सबइंसपेक्टर मालूम हो रहा था, अपनी साइकिल का ताला खोलने लगा। अवसर की बात, मैंने साइकिल में ताला नहीं लगाया था। मौका पा मैं जितना तेज हो सकता था, भाग निकला। कुछ दूर जा मैंने घूम कर देखा तो उसे बाजार की दुपहर बाद की मामूली सी भीड़ में काफी दूर साइकिल पर पीछा करते पाया। अगर यह आदमी "पकड़ो, पकड़ो" चिल्ला देता तो मैं जरूर पकड़ा जा सकता था लेकिन वह साइकिल तेज चला सकने के अभिमान में चिल्लाया नहीं; या वह चुपचाप मेरे पीछे जा कर मेरा स्थान और मुझसे सम्बन्ध रखने वाले आदमियों का भी पता पा लेने की दूरदर्शिता करना चाहता था। मैं गलियों में घुस जितना तेज सम्भव था साइकिल चलाता निकल गया। दो जगह ठहर कर यह भी निश्चय कर लिया कि कोई पीछा तो नहीं कर रहा।

बम फैक्टरी पहुँच कर सुखदेव को इस घटना का समाचार सुनाया। उसने मुझे दो दिन बिलकुल बाहर न निकलने का आदेश दे दिया ताकि मेरा पीछा करता हुआ कोई आदमी बम फैक्टरी तक न पहुंच जाये। दिन भर वहाँ बैठा बैठा मैं पढ़ता रहा। मन में बार-बार विचार उठता कि कम से कम 'लक्ष्मी इंश्योरेन्स कम्पनी' में कोई झूठी-सच्ची-छुट्टी की अर्जी तो दे ही आऊँ।

सुखदेव स्वयं बाहर चला गया था और कोई दूसरा आदमी फैक्टरी में था नहीं। ऊब कर मैं खिड़की से नीचे चौड़ी गली में देखने लगा। कुछ देर कमरे में चहल कदमी करता रहा और फिर नीचे देखा। कई बार देखने पर मुझे वहाँ एक आदमी बार-बार दिखाई दिया। उसे अपनी

खिड़की की ओर देखते भी पाया। सुखदेव के आने पर मैंने उससे यह चर्चा की और अपना सन्देह प्रकट किया कि इस मकान पर खुफ़िया-पुलिस को सन्देह हो गया जान पड़ता है। खुफ़िया-पुलिस के लोगों के रंग-ढंग से हम काफ़ी परिचित हो चुके थे। भगवती भाई, धन्वन्तरी और भगतसिंह के मकान पर उन्हें चौकसी करते और इनका पीछा करते प्रायः देखते ही थे।

"यह तुम्हारी कल्पना है"—उसने टाल दिया। मैंने तर्क किया कि 'मर्करी-फलमिनेट' बनाने के प्रयत्न में जो धुआँ और दुर्गंध यहाँ से उड़ी है उसके कारण लोगों को जरूर इस मकान के बारे में सन्देह हो गया होगा। उस समय मुझे यह मालूम नहीं था कि सन्देह गुलामरसूल खरादिये के यहां से हो चुका था। वहां से बम का खोल लाते समय किशोरीलाल का पीछा करके खुफिया पुलिस ने इस मकान का पता लगा लिया था।

यह बात जहां तक मेरा खयाल है, १३ अप्रैल १९२९ की है। रात भी मैं बम फैक्टरी में ही सोया। १४ अप्रैल सुबह मुंह अंधेरे ही उठ अपने घर पहुँचा कि वहां का भी कुछ हाल देखूँ और 'लक्ष्मी इंश्योरेंस कम्पनी' में जाकर अपनी गैरहाजिरी की कोई सफ़ाई दूँ। तस्वीरें लाते समय मेरा पीछा पुलिस के एक आदमी ने जरूर किया था परन्तु लाहौर जैसे बड़े शहर में केवल एक आदमी के पहचान लेने से क्या डर होता? उस रोज मैं दफ्तर भी गया और संध्या समय सुखदेव से फिर मुलाकात हुई।

'मर्करी-फलमिनेट' बना लेने के बाद हम लोग बम के मसाले की मुख्य वस्तु 'पिकरिक-एसिड' बनाने की तैयारी कर रहे थे। इसलिये सुखदेव से पूछा कि रात को फैक्टरी में मेरी जरूरत तो नहीं?

"आज बाहर से दूसरे आदमी आ रहे हैं। 'पिकरिक-ऐसिड' दो-तीन दिन बाद बनायेंगे"—सुखदेव ने उत्तर दिया। उस रात जयगोपाल और किशोरीलाल वहां आये हुए थे। इन लोगों को अभी मेरे सक्रिय सहयोग देने की बात मालूम न थी। बेमतलब बताने से लाभ भी न था। सुबह साढ़ेसात-आठ के लगभग ही साइकिल पर भगवती भाई के मकान पर भाभी से मिलने गया, शायद सुखदेव मेरे लिये कोई संदेश दे गया हो। 'ग्वालमण्डी' किलागुजरसिंह और कच्छोवाली के आधे में पड़ती थी। सुखदेव मेरे लिये यहां ही सन्देश दे जाता था।

भगवती भाई का मकान पुलिस से घिरा हुआ था परन्तु तलाशी अभी नहीं हो रही थी। पुलिस वाले कुछ ज्यादा सख्ती दिखला रहे थे। वे घर के आदमियों को बाहर नहीं जाने दे रहे थे। पुलिस का सबइन्सपेक्टर मकान के सामने कुर्सी डाले बैठा था। मैंने उससे धौंस से बात की—"आपको तलाशी लेनी हो तो तलाशी लीजिये, इन लोगों को परेशान क्यों कर रहे हैं ? घर में बच्चा बीमार है, यह लोग उसे डाक्टर के यहां ले जाना चाहती हैं।" उस समय सुशीलाजी का गोद लिया बंगाली लड़का सतीश कुछ बीमार था।

सबइन्सपेक्टर ने जवाब दिया—"तलाशी मैं खुद नहीं ले सकता। खानबहादुर साहब की इन्तजार है। तलाशी उनके आने पर ही होगी।"

उसी समय एक कान्स्टेबल साइकिल पर आकर पहुंचा था। सब इन्सपेक्टर स्वयं भी बैठा ऊब रहा था। इस कान्स्टेबल से उसने पूछा—"इतनी देर क्यों लग रही है खानबहादुर साहब को ? वहाँ आखिर कितनी देर तक तलाशी होती रहेगी ?"

इस बात से मेरा माथा ठनका। समझा कि तलाशी और जगह भी हो रही है। पहले खयाल आया कि नौजवान भारतसभा के साथियों धन्वन्तरी, एहसान वगैरा के यहाँ तलाशी हो रही होगी !

भाभी से पूछा कि कोई खतरे की चीज तो नहीं है ? "मुझे मालूम नहीं"—उन्होंने उत्तर दिया—"कल शाम सुखदेव आया जरूर था। कह नहीं सकती। उसका क्या ठिकाना ?....कह भी तो नहीं जाता।"—सोचा जा कर सुखदेव को ही खबर दूं।

'गवालमंडी' से साइकिल पर 'कश्मीरी बिल्डिंग' की ओर चला। 'कश्मीरी बिल्डिंग' 'किला गुज्जरसिंह' की मुख्य सड़क से फटती एक छोटी सड़क से अन्दर जाने वाली गली पर थी। ज्यों ही मैंने इस छोटी सड़क से साइकिल गली में मोड़ी, फैक्टरी के नीचे, जीने के सामने पुलिस का खासा झुन्ड दिखाई दिया। अब घबराकर पीछे लौटता तो सन्देह होता। पुलिस के झुन्ड के बीच से गुजरने में भी झिझक हो रही थी।

उतावली और घबराहट न दिखा मैं पुलिस के बीच से निकल गली पार हो गया। दूसरी ओर से गवालमण्डी की ओर लौटा। रास्ते में भी यह देखता गया कि मेरा पीछा तो नहीं किया जा रहा है ? भाभी और

सुशीलाजी को एक ओर ले जाकर बताया—"सर्वनाश, बम फैक्टरी में पुलिस पहुंची हुई है। तलाशी हो रही है। मैं नीचे से ही बच कर आ गया हूँ।"

"सुखदेव कहां होगा ?"—उन लोगों ने पूछा।

"ठीक नहीं कह सकता"—उत्तर दिया—"रात उसके फैक्टरी में ही रहने की बात थी। अगर वहाँ होगा तो गया।"

"जैसे भी हो, तुम अपने आपको बचाओ!"—दोनों ने आग्रह किया।

"वे (भगवती) जाने कहां होंगे ?"—भाभी ने चिन्ता से कहा—"कहीं बेखबरी में वहा जाकर फंस न जायें!"

"अगर आज वहां नहीं गये तो नही फसेंगे"—आश्वासन दिया—"कल सुबह तो यह बात अखबार में छप ही जायगी।"

गवालमंडी से मैं सीधा अपने मकान बच्छोवाली में पहुँचा। माँ और बहिन प्रेमवती को सब बात साफ-साफ कह दी—"मैं इसी समय जा रहा हूँ। संभव है कुछ महीनों बाद लौटूँ, हो सकता है कभी न लौटूँ।"

घर की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, यह पहले ही कह चुका हूँ। उस समय जो थोड़े बहुत रुपये थे, उसमें से भी मैंने कुछ ले लिये। मां को यह कह दिया कि डा० गोपीचन्द के यहां मेरी तीन महीने की तनखाह के दोसौचालीस रुपये बकाया हैं, वहाँ से ले लीजियेगा। बाद में मालूम हुआ कि माँ के तकाजा करने पर डा० साहब ने ४०) दे कर कह दिया कि २००) यशपाल मुझसे पहले ही ले जा चुका है। आप को विश्वास नहीं होता तो यशपाल के आने पर ही बात कीजियेगा। यह तो डा० साहब को मालूम ही था कि यशपाल फरार है और फरारी का कारण भी वे जानते ही थे।

डा० साहब ने जिस परिस्थिति में रुपया मुझे दिया था, मेरा यह समझना स्वाभाविक था कि वे ला० लाजपतराय जी के ऊपर आक्रमण का बदला ले लिया जाने के संतोष में यह सहायता दे रहे हैं। बाद में समझ में आया कि डा० साहब ने तो ईमानदारी से मेरी तनख्वाह ही दी थी। लाला जी के अपमान का बदला लेना केवल हमीं लोगों की जिम्मेवारी थी। नेताओं की बातें सर्वसाधारण से कुछ भिन्न ही होती हैं। दो सौ रुपये डाक्टर गोपीचन्द के लिये कोई बड़ी बात नहीं समझी जा सकती

थी। लाला जी के लिये उनकी श्रद्धा भी अपार थी। हो सकता है, मन ही मन उन्होंने यह दूरदर्शिता की हो कि यशपाल कभी गिरफ्तार होने पर पुलिस को यह बयान न दे दे कि डा० गोपीचन्द ने आतंकवादियों को आर्थिक सहायता दी थी ! यह अनुमान इसलिये है कि उस समय के पंजाब के सबसे बड़े वामपक्षी नेता डा० सत्यपाल ने ऐसी परिस्थिति में इससे भी विचित्र व्यवहार किया था। एक साथी उनके पास भी पहुँचा और सांडर्सकांड जैसे कार्यों में आर्थिक सहायता के लिये अनुरोध किया।

डा० साहब ने घबराहट में उत्तर दिया—"मैं खूब समझता हूँ, तुम खुफिया-पुलिस के आदमी हो। तुम अभी मेरे बंगले से बाहर निकल जाओ नहीं तो मैं पुलिस को फोन करके तुम्हें गिरफ्तार करवा दूंगा।"

डा० सत्यपाल का अनुमान इतनी दूर तक गया तो उन्हें यह भी सोचना चाहिये था कि खुफिया-पुलिस वाले को पुलिस गिरफ्तार करेगी क्यों ? और सजा क्या देगी ? उनकी इस चौकसी का अर्थ पुलिस को यह विश्वास दिलाने की इच्छा ही थी कि क्रान्तिकारियों से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है।

यह तो हुई प्रान्तीय नेताओं की बात ! स्वयं गांधी जी ने ही धन्वन्तरी को खुफ़िया-पुलिस का आदमी समझ लिया था। धन्वन्तरी आर्थिक सहायता मांगने भी नहीं गया था। वह केवल यह प्रार्थना करने 'साबरमती' पहुँचा था कि गांधी जी हम लोगों के कामों की सार्वजनिक रूप से निन्दा न करें तो बड़ी कृपा होगी। आपको हमारे मार्ग से सहानुभूति नहीं तो चुप ही रह जाइये। गांधी जी बोले, "मुझे तो यह आदमी खुफ़िया पुलिस का जान पड़ता है" और बात करने से ही इनकार कर दिया। ढंग से बात कर लेने का साहस देखा केवल आचार्य युगुलकिशोर जी, पण्डित नेहरू और आचार्य कृपलानी में। मैं स्वयं ही इन लोगों से मिला था। इसकी चर्चा भी प्रसंग आने पर ही करूंगा। हां नेता जी सुभाष बोस का तो चेहरा हम लोगों से मिलकर खिल उठता था।

× × ×

दोपहर बीतने से पहले ही मैं लाहौर से चल दिया। उस समय अमृतसर की ओर एक गाड़ी जा रही थी यही कांगड़े का रास्ता था। आत्मरक्षा की भावना में पहली सूझ यही थी कि किसी तरह लाहौर से बच कर निकल जाऊँ। जाने से पहले पोशाक बदल ली थी। लाहौर में साधारण

विद्यार्थियों की सी पोशाक में रहता था। उस समय स्टेशन जाते हुए एक सोला हैट खरीद लिया और मूंछें साफ़ कर लीं।

फरारी की उस पहली यात्रा में कलेजा कैसे धक-धक कर रहा था ? जान पड़ता था बड़े भारी संकट से गुजर रहा हूँ। सभी आंखें सन्देह से मुझे ही खोजती जान पड़ती थीं। फरारी के सबसे बड़े गुर आत्म-विश्वास का रहस्य समझ लेने पर उसी लाहौर में, जब सभी जगह बड़े-बड़े इश्तहार मेरी गिरफ्तारी के लिये इनाम की घोषणा के लगे हुए थे, मामूली सी सावधानी से निधड़क घूम लेता। उसी लाहौर स्टेशन पर जेब में रखा पिस्तौल भूल से दिखाई दे जाने पर भी बेपरवाही दिखा, मुख से सीटी बजाते हुए हाथ में कारतूस उछालते हुए गाड़ी चढ़ जाता। सन्देह से बचने का इससे सरल उपाय और क्या हो सकता था ?

आरम्भ में फ़रारी का कोई अनुभव न होने से वैसा ही व्यवहार किया जैसे शिकारी से भागा हुआ जंगली जानवर करता है। जंगली जानवर आतंक अनुभव करने पर आत्मरक्षा के लिये प्रायः अपने भिटे या अड्डे की ओर ही भागता है। मैं भी कांगड़े जा पहुंचा। जा कर टिका अपने सम्बन्धी और विश्वस्त मित्र वकील दीवान मानचन्द्र के यहाँ। धोखे में न रखने के लिये यह भी बता दिया कि मैं किस अवस्था में फ़रार हो कर आया हूँ।

एक बात लगातार मेरे मस्तिष्क को व्याकुल किये थी :—बम फैक्टरी को पुलिस जैसे घेरे हुए थी, मैं अपनी आंखों देख आया था। पुलिस के चेहरों पर मुझे कोई आतंक या घबराहट न दिखाई पड़ी थी। मुझे मालूम था कि आगरे में तैयार किये गये मसाले से बना एक बम फैक्टरी की आलमारी के ऊपर के खाने में मौजूद था। यह भी मालूम था कि सुख-देव के पास रिवाल्वर और कारतूस भी थे। सुखदेव ने पुलिस के आने पर कैसा व्यवहार किया, कैसे सामना किया, यह जानने के लिये मैं व्याकुल-उत्सुकता से अखबार की प्रतीक्षा कर रहा था। कांगड़ा में अख-बार एक दिन विलम्ब से मिला। यह पढ़ कर कि सुखदेव ने पुलिस का कुछ भी सामना न कर, कांपते हुए हाथों से सब चीजें पुलिस को सौंप दीं, मैं विश्वास न कर पा रहा था। इस बात का रहस्य जानने के लिये मन बेचैन था। बाद में जब यह विश्वास करना ही पड़ा, मेरा मन ग्लानि से भर गया। कुछ और भी बातें मालूम हुईं तो यह ग्लानि कैसे सुखदेव को

गोली मार देने के निश्चय तक पहुँच गयी, यह निर्णय उचित था या अनुचित, यह बात यथास्थान कहना ही ठीक होगा। यह ठीक है कि सुखदेव ने पुलिस को बयान अपने प्राण बचाने के लिये नहीं दिया। इस . । कारण उसकी अति अहम्मन्यता या ही था।

लाहौर बम फैक्टरी के पकड़े जाने के अवसर पर यद्यपि कोई विशेष घटना न हो पाई परन्तु हमारे इतिहास में उसका महत्व है। इस फैक्टरी के पकड़े जाने से ही असेम्बली बम काण्ड सारण्डर्स कांड तथा दूसरी घटनाओं का पारस्परिक सम्बन्ध पुलिस को मिल सका और इसके बाद हमारे आन्दोलन ने भी अगला कदम उठाया।

"फरारी में जिन्दगी नहीं निभ सकती!"—वकील साहब ने समझाया—"फरार हो जाने से तो केवल पुलिस का सन्देह बढ़ेगा और तुम्हारी फरारी अदालत की दृष्टि में तुम्हारी अपराधी भावना का प्रमाण बन जायगी। बेहतर है कि पुलिस के हाथ आत्मसमर्पण कर दो। कानूनी चाराजोई जो भी होगी हम लोग करेंगे।....यदि विचार दूसरा है, फरार रह कर अपना काम जारी रखना चाहते हो, तो तुम जानो। परन्तु उसके लिये कांगड़ा उचित जगह नहीं। यहां के छोटे-छोटे, बीस-पच्चीस घरों के गांवों में सभी आदमी एक दूसरे को पहचानते हैं। यहाँ नया आदमी छिप नहीं सकता। अपरिचित आदमी यहां कभी ही दिखाई देते हैं, उनके लिये कौतूहल भी बहुत अधिक होता है।....फरार होकर इस पहाड़ में छिपने वाला आदमी तो ऐसे पकड़ा जाता है जैसे घड़े में बन्द मछली! ....और यहां के लोगों की राजनैतिक चेतना या दृष्टिकोण क्या है? यहां के लोगों का एक ही पेशा है, फौज की नौकरी....।"

कांगड़े के पुराने किले के खण्डहरों में, जो परिवर्तन की विराट साक्षी हैं, बैठ कर सोचा और निर्जन पहाड़ों में छिप कर बम बनाने और क्रान्तिकी कल्पना की मूर्खता को समझा! क्रान्ति तो जनसमूह से ही हो सकती है, निर्जन प्रदेशों में नहीं! कोई आत्मचिन्तन द्वारा आत्मिक शक्ति की ज्वाला को जागरित करना ही लक्ष्य समझे, तो बात दूसरी है।

अगले ही दिन मैं मनुष्यों के जंगल किसी बड़े नगर में अपने आप को छिपाये रख कर अपने साथियों से सम्बन्ध खोजने या अपने ही बूते क्रान्ति के लिये कुछ प्रयत्न सकने के लिये पंजाब की ओर चल दिया!